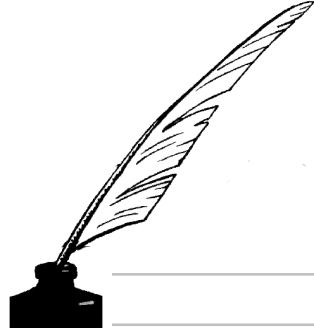
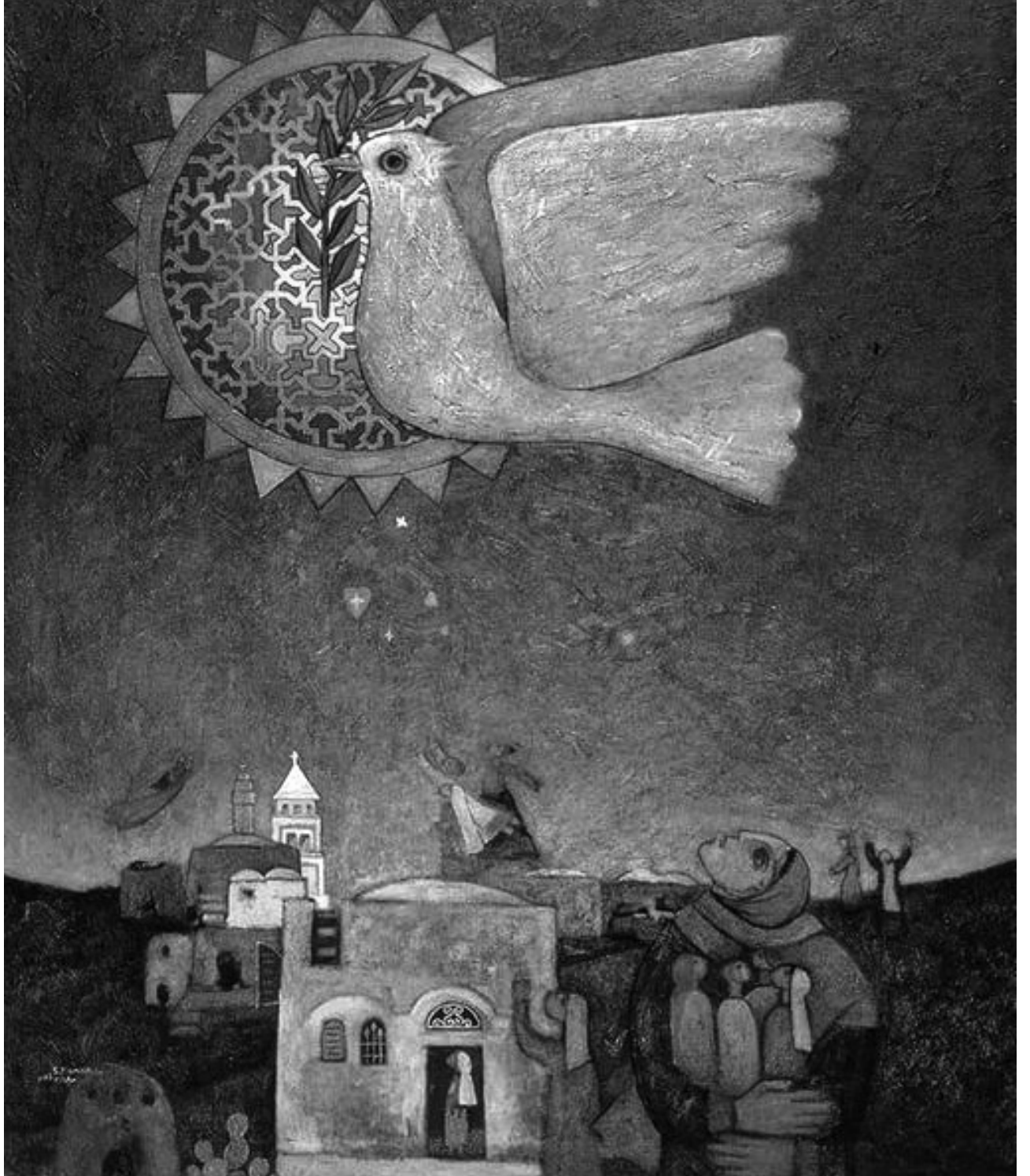


समरथ



अक्टूबर-दिसंबर, 2023 ♦ नई दिल्ली



जाहि तो जन्म नसाई

इजराइल पर हमास के आतंकी हमलों के बाद गज़ा में इजराइल की लगभग ढाई महीने से जारी अंधाधुंध सैन्य कार्यवाही में मरने वालों की संख्या 22 हजार तक पहुंच गई है जिनमें एक रिपोर्ट के अनुसार दो तिहाई बच्चे और महिलाएं हैं। लगभग 22 लाख लोग घर से बेघर हुए हैं। आबादियों, अस्पतालों पर हमलों, डाक्टरों, नर्सों और अन्य स्वास्थ्यकर्मियों की मृत्यु, दवाओं, खाद्य सामग्री और पानी की सख्त कमी के कारण गज़ा के लोगों को जिस भयावह अमानवीय परिस्थितियों का सामना है उसकी कल्पना भी कठिन है। उनकी यह दुर्दशा जो अब अपनी चरम सीमा तक जा पहुंची है कोई नई बात नहीं है। उन्हें पिछले 56 वर्षों से इन परिस्थितियों का सामना है। मगर हमास के शासन में आने के बाद गज़ा की जल, थल और आकाश तीनों तरफ से पूर्ण नाकाबंदी ने उसे 'ओपन एयर प्रिजन' अर्थात् खुले आसमान वाली जेल में तब्दील कर दिया है। हमास ने इजराइल के मासूम और बेकसूर नागरिकों के साथ जो कुछ किया उसे किसी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता मगर इस संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ के सेक्रेटरी जनरल एंटोनियो गुटेरेस का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि हमास के यह हमले शून्य में नहीं हुए। उन्होंने इनके कारण गिनाते हुए फ़िलीस्तीनियों की धरती पर इजराइल के कब्जे, उनकी ज़मीन पर इजराइली बस्तियों के निर्माण, उनके घरों की तबाही, उनके बेघर होने, उनकी आर्थिक दुर्दशा और उनकी मुसीबतों के अंत के लिए किसी राजनीतिक समाधान की धुंधली होती हुई आशाओं का उल्लेख किया है। मगर इन सबके बावजूद भी हमास के आतंकवादी हमलों का कोई औचित्य नहीं है और न ही उसके इस कुकर्म के बदले में पूरे फ़िलीस्तीनी जनता के सामूहिक प्रताड़न को सही कहा जा सकता है। निःसंदेह संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख का यह बयान पूरे विश्व के शांतिप्रिय लोगों का प्रतिनिधित्व करता है मगर जनतंत्र और मानवीय अधिकारों का दम भरने वाली शक्तियों विशेषकर अमेरिका ने आत्म-सुरक्षा के नाम पर इजराइल को न केवल खुली छूट दे रखी है बल्कि उसे हथियारों की निरंतर सप्लाई को भी सुनिश्चित कर रखा है जो निहत्थे फ़िलीस्तीनियों के खिलाफ़ इस्तेमाल हो रहे हैं।

अलबत्ता इस पूरे प्रकरण में अहम बात यह है कि संभवतः पहली बार योरोप और अमेरिका में फ़िलीस्तीनियों पर हो रहे अत्याचार के विरोध में प्रदर्शन हो रहे हैं जिनमें जियोनिज़म का विरोध करने वाले यहूदी भी खुलकर हिस्सा ले रहे हैं। इजराइल में भी ऐसे प्रदर्शन हो रहे हैं। इन प्रदर्शनों के नतीजे में योरोप के कई देशों की सरकारों के रवैये में भी सकारात्मक तब्दीली देखने में आ रही है लेकिन फिलहाल इजराइल और बड़ी शक्तियों विशेषकर अमेरिका की हठधर्मी के कारण निकट भविष्य में वर्तमान समस्या के समाधान की कोई संभावना नज़र नहीं आती और इस सूरत में फ़िलीस्तीनियों को जिन कठिनाईयों से गुजरना पड़ेगा उसकी सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है और यह भी प्रश्न अपनी जगह मौजूद है कि क्या इजराइल अपनी जबरदस्त सैन्य शक्ति के बल पर हमास को पूरी तरह ध्वस्त करने के बाद इस तरह की आतंकवादी गतिविधि से सुरक्षित रह सकेगा और क्या हमास की जगह कोई और संगठन नहीं उठ खड़ा होगा? इन आशंकाओं को देखते हुए उचित यही है कि इस समस्या का राजनीतिक समाधान तलाशा जाए जो दो राज्यों के सिद्धांत को अमली रूप देने से ही संभव है।

सब जानते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन दूसरे महायुद्ध की विजेता शक्तियों के प्रयासों से हुआ था। यह विजयी देश आज भी उसकी कार्यप्रणाली में मुख्य रोल अदा करते हैं और अपने निजी स्वार्थों के चलते उसके फैसलों पर प्रभाव डालते हैं जिसके फलस्वरूप यह संस्था अपने नेक इरादों और पूरी दुनिया के अवाम का प्रतिनिधित्व करने के बावजूद स्वयं को बेबस महसूस करती है, जिसका हालिया उदाहरण उसकी सुरक्षा परिषद का संशोधित प्रस्ताव है जो अमेरिका के वीटो के कारण केवल उस समय पारित हो सका जब उसमें से युद्ध को तुरंत रोकने का प्रावधान सिरे से हटाकर उसे सिर्फ गज़ा के भूखे और परेशान हाल नागरिकों तक तुरंत मानवीय सहायता पहुंचाने तक सीमित कर इसे अप्रभावी और दंतहीन बना दिया गया। इन परिस्थितियों को देखते हुए अब यह अत्यंत आवश्यक मालूम होता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के बुनियादी ढांचे में ऐसे परिवर्तन किए जाएं जिससे कि वह किसी भी मानवीय संकट में लोकतांत्रिक ढंग से न्यायोचित फैसले कर सके जिनके अनुपालन के लिए सभी छोटे-बड़े देश बाध्य हों और उनके लागू होने में कोई बड़ी शक्ति रुकावट न बन सके।

2 • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2023

फ़िलीस्तीन

—गौहर रज़ा—

अजीब जंग है ये
और अजीब तर है कि जो
इस एक जंग में
ज़ालिम की सफ़ में शामिल हैं

ये जंग बच्चों के
मांओं के
दर्सगाहों के,
निहत्थे लोगों के,
बूढ़ों के और ज़ईफ़ों के,
ये जंग ज़ख्मी मरीजों के
अस्पतालों के
ख़िलाफ़ जंग है
जो जाने कब से जारी है
और इनका जुर्म है आज़ादी-ए-वतन का जुनून

ये जंग तेल पे क़ब्ज़े की जंग है लेकिन
ये जंग मजलिस-ए-अक़वाम के ख़िलाफ़ भी है
वो चाहते हैं कि ये जंग ख़त्म हो न कभी
अजन्मे कोख के बच्चे चुकाएं हर कीमत
बिछाएं लाशें तो यूं हो, ज़मीन छोटी पड़े
बहे जो खून तो भर जाए उस से हर सागर
वो चाहते हैं गुलामी का दौर लौट आये
ये ख़्वाब है कि सभी कुछ तबाह हो जाए

जो क़समें खाते थे तहज़ीब की हिफ़ाज़त की
नकाबें फेंक के उतरे हैं आज मैदान में
लगाए जिस्म पे मज़लूमियत के तमग़ों को
हैं साथ जुल्म के, ज़ालिम के सफ़ में शामिल हैं
मगर ये भूल गए हैं कि ज़ख्म गहरे सही
करोड़ों लोग उठेंगे कहेंगे बस, अब बस
भरोसा देंगे, फ़िलिस्तीन के अवाम को वो
ये जंग सिर्फ़ तुम्हारी नहीं, हमारी भी है
करोड़ों लोग उठेंगे हर एक मुल्क में जो
हुकूमतों के सिरों को झुका के दम लेंगे

समरथ • 3

अक्टूबर-दिसंबर, 2023

ग़ज़ा की घेराबंदी मानवता के खिलाफ़ अपराध है

अरुंधति रॉय



फ़िलिस्तीन और इज़राइल की खातिर, जो ज़िंदा हैं उनकी खातिर और जो मारे गए उनके नाम पर, हमास के हाथों बंधक बनाए गए लोगों की खातिर और इज़राइली जेलों में बंद फ़िलिस्तीनियों की खातिर, सारी इंसानियत की खातिर, ग़ज़ा पर हमला फ़ौरन बंद होना चाहिए।

दुनियाभर में लाखों लोग, यहूदी, मुसलमान, ईसाई, हिंदू, कम्युनिस्ट, आस्तिक, और एग्नॉस्टिक लोग, सड़कों पर जुलूस निकाल रहे हैं और ग़ज़ा पर हमले को फ़ौरन बंद करने की मांग कर रहे हैं। इन बेशुमार लोगों के साथ अपनी आवाज़ मिलाए बिना मैं किसी सार्वजनिक मंच पर नहीं आ सकती—नहीं, जर्मनी में भी नहीं, जहां मैं जानती हूँ कि मेरे जैसे विचार एक तरह से प्रतिबंधित हैं।

अगर हमने इस खुलेआम क्रत्लेआम को जारी रहने दिया, जबकि यह हमारी निजी जिंदगियों के अंतरंग कोनों में लाइवस्ट्रीम हो रहा है, तो हम भी इस क्रत्लेआम के भागीदार बन रहे हैं। हमारा नैतिक वजूद हमेशा-हमेशा के लिए दरक जाएगा।

जब अस्पतालों पर बम गिराए जा रहे हैं, जब दसियों लाख लोग अपने घरों से उजाड़े जा चुके हैं और मलबों के नीचे से बच्चों की लाशें निकल रही हैं, क्या हम बस चुपचाप खड़े होकर इसे देखते रहेंगे? क्या हम एक बार फिर से चुपचाप यह देखते रहेंगे कि एक पूरे के पूरे अवाम के सम्मान और इंसानी हैसियत को इस तरह कमतर बना दिया जाए कि उनको इस धरती से मिटा देने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता हो? वेस्ट बैंक पर इज़राइली क्रब्ज़ा और ग़ाज़ा की घेराबंदी मानवता के खिलाफ़ अपराध हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और दूसरे देश इस अपराध के बराबर के भागीदार हैं जो इस क्रब्ज़े के लिए धन और हथियार मुहैया कराते हैं। अभी हम जिस ख़ौफ़ के गवाह बन रहे हैं, जिसमें हमास और इज़राइली द्वारा नागरिक आबादी का बेशर्म क्रत्लेआम घेरेबंदी और क्रब्ज़े का नतीजा है।

चाहे दोनों ही पक्षों द्वारा की जाने वाली क्रूरता का कैसा भी

ब्यौरा दिया जाए, उनकी ज्यादातियों की कितनी भी निंदा की जाए, झूठे तौर पर चाहे कितना ही बताया जाए कि उनके अत्याचारों के पैमानों में एक बराबरी है, वे हमें किसी समाधान तक नहीं पहुंचा सकते। इस भयावहता को जन्म देने वाली चीज़ है क्रब्ज़ा।

क्रब्ज़ा ही वह चीज़ है जो अपराध करने वालों और उस अपराध का निशाना बनने वालों, दोनों पर हिंसा कर रही है। इसके मजलूम मर चुके हैं, और इसके मुजरिमों को अब अपने जुर्म के साथ जीना पड़ेगा और उनकी आने वाली उनकी पीढ़ियों को भी।

इसका हल किसी फ़ौजी कार्रवाई से नहीं निकल सकता। यह सिर्फ़ एक राजनीतिक हल ही हो सकता है, जिसमें इज़राइलियों और फ़िलिस्तीनियों, दोनों को ही एक साथ या एक दूसरे के साथ-साथ रहना पड़ेगा। सम्मान के साथ और समान अधिकारों के साथ।

दुनिया को इसमें दखल देना ज़रूरी है। इस क्रब्ज़े का अंत ज़रूरी है। फ़िलिस्तीनियों को सचमुच का एक मुल्क मिलना ज़रूरी है। अगर नहीं तो पश्चिमी सभ्यता की नैतिक इमारत ढह जाएगी। हम जानते थे कि यह हमेशा ही एक दोमुंही चीज़ थी, लेकिन उसमें भी एक क्रिस्म की पनाह मिलती थी। वह पनाह हमारी आंखों के सामने से ख़त्म हो रही है इसलिए, फ़िलिस्तीन और इज़राइल की खातिर, जो ज़िंदा हैं उनकी खातिर, और जो मारे गए उनके नाम पर, हमास के हाथों बंधक बनाए गए लोगों की खातिर और इज़राइली जेलों में बंद फ़िलिस्तीनियों की खातिर, सारी इंसानियत की खातिर, ग़ज़ा पर हमला फ़ौरन बंद हो। सीज़फ़ायर नाउ।

साभर : scroll.in

4 • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2023

इजराइल हमारा युद्ध

गज़ा में ये फ़िलीस्तीनी बच्चों की पढ़ाई कैसे बचा रहे हैं?

डालिया हैदर



दक्षिणी ग़जा पट्टी की रफाह सिटी में एक अस्थाई क्लासरूम की खिड़कियों पर सूखने के लिए कपड़े टंगे हैं। कमरे में दर्जन भर कुर्सियों के सामने लकड़ी का एक बोर्ड रखा हुआ है जिसमें अंग्रेज़ी में लिखा है, 'क्या आपको फ़िलीस्तीन से मोहब्बत है?'

अक्टूबर में जब से ग़जा में युद्ध शुरू हुआ, शिक्षा तंत्र पूरी तरह ध्वस्त हो चुका है। ऐसे में फ़िलीस्तीनी शिक्षक तारिक अल-एनबी ने स्वेच्छा से इस छोटी जगह में पढ़ाना तय किया ताकि बुरे हालात के बावजूद बच्चों की पढ़ाई बाधित ना हो। तारिक की ये पहल उस जगह हो रही है, जहां हजारों की संख्या में बच्चे इजराइल के हमले में मारे गए हैं। यानी जहां बच्चे जिंदा नहीं बच पा रहे हैं, वहां तारिक बच्चों की पढ़ाई बचाने की कोशिश कर रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र के अनुसार, जबसे इजराइल ने ग़जा में ज़मीनी अभियान शुरू किया है, 6.25 लाख फ़िलीस्तीनी स्टूडेंट्स पढ़ाई लिखाई से महरूम हो गए हैं। ग़जा के शिक्षा मंत्रालय का कहना है कि बीते दो महीने की जंग में शिक्षा से जुड़े 203 कर्मचारी और 3,477 स्टूडेंट मारे जा चुके हैं।

लेकिन इस छोटे से ही सही अस्थाई क्लासरूम में ऐसा लगता है कि बाहर जो कुछ हो रहा है उससे बच्चों को राहत मिल रही है। वे खुश हैं, सवालों का जवाब देने के लिए वे उत्साहपूर्वक हाथ उठाते हैं, प्रतियोगिता करते हैं, एक दूसरे से मिलते जुलते हैं और शिक्षक से अपनी खिलखिलाहट को छुपाने की कोशिश करते हैं, जैसे कि वे अपने नियमित स्कूली दिनों में करते थे।

जंग से बेहाल इलाक़े में पढ़ाने का इरादा

तारिक अपने घर से खुद का ब्लैकबोर्ड लेकर आए, जिसे वो पहले प्राइवेट ट्यूशन के लिए इस्तेमाल करते थे। उन्होंने बच्चों में छोटे बोर्ड और चाक के टूटे टुकड़ों को बाँट दिया। वो कहते हैं, "यह एक मौका है कि बच्चों को जंग के माहौल से बाहर लाया जाए और उन्हें अंग्रेज़ी पढ़ाया जाए।"

लेकिन चाहे वो कितनी भी कोशिश कर लें, छात्रों के लिए जंग की हकीकत से दूर होना संभव नहीं है। वो कहते हैं कि बमबारी की वजह से उन्हें कई कई बार अपने क्लास को रोकना पड़ा और जब चीजें शांत हुईं तभी उन्होंने पढ़ाई जारी रखना शुरू किया।

लेकिन सभी मुश्किलों के बावजूद उनका मानना है कि अंग्रेज़ी की पढ़ाई एक रास्ता है ताकि जो कुछ बाहर हो रहा है उसके बारे में बच्चों से बात की जा सके और जंग के बारे में उनकी भावनाओं को संप्रेषित करने उन्हें मदद करने का एक तरीका है। ऐसा लगता है कि पूरे ग़जा से विस्थापित बच्चे और उनके परिवारों में तारिक की पहल को 'उत्साहजनक और दिल से' सराहना मिल रही है।

शुरू में उनकी क्लास में केवल 10 बच्चे थे, जिनकी संख्या अब 30 तक पहुंच गई है। इन बच्चों की उम्र 8 से 14 साल है और वे बारी-बारी से उनसे अंग्रेज़ी सीख रहे हैं।

जंग से पहले 25 साल के तारिक ग़जा सिटी के पूर्व में स्थित जैतून के अल-हूरिया स्कूल में पढ़ाते थे। वो हर दिन रफाह के अपने घर से ग़जा के उस स्कूल तक जाते थे, स्कूल के बाद वो बच्चों को ट्यूशन देते थे और अपने दोस्तों के साथ कैफे में फुटबॉल का मैच देखना पसंद करते थे। निराशा में वो कहते हैं, "अब सब कुछ बिल्कुल बदल चुका है।" वो हमें बताते हैं कि इजराइली बमबारी में उनका स्कूल ध्वस्त हो गया और उनके कुछ छात्र मारे गए।

ग़जा में 70 प्रतिशत स्कूली इमारतें ध्वस्त

बच्चों के लिए काम करने वाली संयुक्त राष्ट्र की संस्था यूनीसेफ़ की एक रिपोर्ट के अनुसार, जंग के पहले दो महीनों में 342 से अधिक स्कूल की इमारतें क्षतिग्रस्त हो गईं। रिपोर्ट बताती है कि यह ग़जा में कुल स्कूल इमारत का यह 70 प्रतिशत है और पूरब में फ़िलीस्तीनी रिफ्यूजी के लिए काम करने वाली संयुक्त राष्ट्र की संस्था यूएनआरडब्ल्यूए द्वारा संचालित 70 में से 56 स्कूलों में विस्थापित फ़िलीस्तीनी शरणार्थियों को रखा गया है।

यूनीसेफ का अनुमान है कि यूएनआरडब्ल्यूए द्वारा संचालित स्कूलों में इस समय करीब 11 लाख लोग पनाह लिए हुए हैं और 2.23 लाख लोग पब्लिक स्कूलों में रह रहे हैं। यूनीसेफ के कम्युनिकेशन मैनेजर रिकार्डो पायर्स का कहना है कि यही कारण है कि आने वाले समय में सुरक्षित क्लासरूमों की कमी की चुनौती होगी।

वो अन्य चुनौतियों के बारे में भी बताते हैं, जैसे कि प्रशिक्षित शिक्षकों की उपलब्धता क्योंकि उनमें से कई बमबारी में मारे जा चुके हैं और पढ़ाने और सीखने सिखाने की सामग्रियां नष्ट हो गई हैं। पायर्स अध्यापकों और छात्रों को मनोचिकित्सकीय मदद की जरूरत पर भी जोर देते हैं क्योंकि ये सभी भयंकर संघर्ष शुरू होने के बाद से ही सदमे जैसी हालत से गुजर रहे हैं। तारिक के इस अस्थाई क्लास के बच्चे जंग से पहले की अपनी जिंदगी के दोबारा लौटने के इंतजार में हैं।

सबसे कठिन सवाल

गजा सिटी से विस्थापित हज़ारों बच्चों में से एक 10 साल की आफ़ना कहती हैं, “स्कूल में हम पढ़ते थे और फिर घर को लौट जाते थे।”

“हम यही खाते पीते हैं और सोते हैं... हम जानते हैं कि हमें अपने स्कूल को साफ रखना है लेकिन यह स्कूल साफ़ नहीं है और यह अलग है।” उनकी 10 साल की दोस्त बैतूल अदालू इससे सहमत जताती हैं, “मुझे अपना पुराना स्कूल बहुत याद आता है।”

दोनों लड़कियों का ख़ाब है कि भविष्य में वो डॉक्टरी की पढ़ाई करें। उन्हें उम्मीद है कि वो अपने घरों और स्कूलों को लौटेंगी, यह एक ऐसी इच्छा है जो जल्द पूरी होती नहीं दिख रही है। हो सकता है कि गजा में बच्चों को विधिवत शिक्षा मिलने में सालों नहीं तो महीनों जरूर लग जाएंगे।

यूनीसेफ का आकलन है कि जिन स्कूलों में विस्थापित लोग पनाह लिए हुए हैं, उसे खाली करके अपने घरों को जाने में उन्हें सालों लग जाएंगे। ध्वस्त स्कूलों को फिर से बनाने में भी लंबा वक्त लगेगा।

स्कूलों के जल्द खुलने की नाउम्मीदी के बीच तारिक कहते हैं कि वो सहायता पहुंचाने और शिक्षा देने और विस्थापित लोगों को मदद पहुंचाने का काम जारी रखेंगे। तारिक याद करते हैं, “मेरे एक स्टूडेंट ने मुझसे अबतक का सबसे कठिन सवाल पूछा कि कब जंग खत्म होगी और वे कब अपने घरों को लौटेंगे।”

वह स्कूलों को खाली कराने और विस्थापित लोगों, चाहे वो जहां कहीं भी हों, को घर वापस भेजने की चुनौती पर दुख प्रकट करते हैं। वो कहते हैं, “जंग के बाद के हालात जंग से भी कठिन है।”

साभार : bbc.com/hindi

इक नज़र देखो मुझे

(नाहिदा इज्जत की कविता 'लुक एट मी')

इक नज़र देखो मुझे
मेरी चाहत है मैं नगमें मुहब्बत के लिखूं
रंग में ढाल दूँ मैं तितलियाँ और इन्द्रधनुष
अपनी साँसों में बसा लूँ मैं गुलाबों कि महक
और मैं रक्स करूँ
साज़-ओ-आवाज़ परिंदों कि हों मैं रक्स करूँ
नौनिहालों के तबस्सुम के नज़ारों को मैं
बंद पलकें लिए तकती रहूँ मैं मुद्दत तक
उनकी पेशानी पे बंदूक के साये भी न हों
दूर परियों के देश से लाकर
कुछ कहानी सुनाऊँ बच्चों को
किसी बंदूक की धमक की नहीं
तोप, मीज़ाइल की गरज की नहीं
लेकिन मुमकिन है क्या कि ऐसा हो ?
मेरे दिल में धंसा है इक खंजर
दर्द से सीना मेरा छलनी है
खून रिसता है चीख पड़ती हूँ

बोल इंसानियत कहाँ है तू
तेरी नज़रों के सामने ही मैं
ज़बह होती हूँ लम्हा दर लम्हा
देख मैं चीखती हूँ सहमी हूँ
बोल इंसानियत कहाँ है तू
किस लिए तूने मोड़ ली नज़रें
क्यों यह चेहरा छुपा लिया तूने
मैं यहाँ सड़ रही हूँ मुद्दत से
गजा की चीखती सी सड़कों पे
आ मिला मुझ से तू जरा नज़रें
सिसकियाँ भर रही हूँ देख यहाँ
गजा की चीखती सी सड़कों पे
सुन मेरे बैन देख अश्क मेरे
बोल इंसानियत तू बोल जरा
खोल अपनी यह बंद नज़रें तू
खोल बहरे जो कान हैं तेरे
जबकि मैं खुद और मेरे साथ ही साथ
मेरे मासूम नौनिहाल यहाँ
माँत की नौद सोने वाले हैं।

अनुवाद : डॉ. खुशींद अनवर

6 • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2023

भोपाल गैस त्रासदी :

उस रात की सुबह अभी भी नहीं!



भोपाल गैस त्रासदी को पूरे 35 बरस हो चुके हैं। दो और तीन दिसंबर 1984 की दरम्यानी रात को यूनियन कार्बाइड के कारखाने से निकली जहरीली गैस (मिथेन यानी मिथाइल आइसो साइनाइड) ने अपने-अपने घरों में सोए हजारों लोगों को एक झटके में हमेशा-हमेशा के लिए सुला दिया था। जिन लोगों को मौत अपने आगोश में नहीं समेट पाई थी वे उस जहरीली गैस के असर से मर-मरकर जिंदा रहने को मजबूर हो गए थे। ऐसे लोगों में कई लोग तो उचित इलाज के अभाव में मर गए और जो किसी तरह जिंदा बच गए उन्हें तमाम संघर्षों के बावजूद न तो आज तक उचित मुआवजा मिल पाया है और न ही उस त्रासदी के बाद पैदा हुए खतरों से पार पाने के उपाय किए जा सके हैं।

अब भी भोपाल में यूनियन कार्बाइड कारखाने का सैकड़ों टन जहरीला मलबा उसके परिसर में दबा या खुला पड़ा हुआ है। इस मलबे में कीटनाशक रसायनों के अलावा पारा, सीसा, क्रोमियम जैसे भारी तत्व हैं, जो सूरज की रोशनी में वाष्पित होकर हवा को और जमीन में दबे रासायनिक तत्व भू-जल को जहरीला बनाकर लोगों की सेहत पर दुष्प्रभाव डाल रहे हैं। यही नहीं, इसकी वजह से उस इलाके की जमीन में भी प्रदूषण लगातार फैलता जा रहा है और आसपास के इलाके भी इसकी चपेट में आ रहे हैं। मगर न तो राज्य सरकार को इसकी फिक्र है और न केंद्र सरकार को।

प्रधानमंत्री ने जो बेहद खर्चीला और बहुप्रचारित देशव्यापी स्वच्छता अभियान चला रखा है, उसमें भी इस औद्योगिक जहरीले कचरे और प्रदूषण से मुक्ति का महत्वपूर्ण पहलू शामिल नहीं है। अलबत्ता प्रधानमंत्री ने पिछले साल विधानसभा और इस साल लोकसभा चुनाव के दौरान मध्य प्रदेश में अपनी चुनावी रैलियों में कांग्रेस पर गरजते-बरसते हुए जरूर भोपाल गैस त्रासदी को भी याद किया था। उन्होंने यूनियन कार्बाइड कंपनी के भारत स्थित इकाई के तत्कालीन अध्यक्ष वॉरेन एंडरसन के भारत से भाग निकलने के लिए कांग्रेस को जिम्मेदार ठहराया था, लेकिन ऐसा करते वक्त वे यह भूल

गए कि गैस त्रासदी के लिए जिम्मेदार यूनियन कार्बाइड की उत्तराधिकारी कंपनी डाउ केमिकल्स के वकील उनकी ही पार्टी के नेता और उनकी सरकार में वित्त मंत्री रह चुके अरुण जेटली रहे हैं।

उल्लेखनीय है कि जिस समय गैस पीड़ितों के मुआवजे का मामला सुप्रीम कोर्ट में चल रहा था उसी दौरान यूनियन कार्बाइड के भोपाल प्लांट यूनियन कार्बाइड ऑफ इंडिया लिमिटेड को अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनी डाउ केमिकल्स ने खरीद लिया था। सुप्रीम कोर्ट में वकील की हैसियत से अरुण जेटली ने डाउ केमिकल्स का पक्ष रखते हुए कहा था कि यूनियन कार्बाइड कंपनी से डाउ केमिकल्स का कोई लेना देना नहीं है। जेटली ने डाउ की वकालत करते हुए 13 दिसंबर 2006 को सुप्रीम कोर्ट में हलफनामा देकर कहा था कि डाउ केमिकल्स को भोपाल गैस त्रासदी के लिए किसी तरह से जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

मध्य प्रदेश में भी इस त्रासदी के बाद कई सरकारें आईं और गईं—कांग्रेस की भी और भाजपा की भी—लेकिन इस जहरीले और विनाशकारी कचरे के समुचित निपटान का मसला उनके एजेंडा में जगह नहीं बना पाया। उनके एजेंडे में रहीं नर्मदा परिक्रमा, बुजुर्गों के तीर्थ दर्शन यात्रा जैसी योजनाएं या फिर विकास के नाम पर्यावरण को तहस-नहस करने वाली खर्चीली परियोजनाएं, जिनमें भ्रष्टाचार की असीम संभावनाएं रहती हैं।

भोपाल गैस त्रासदी की भयावहता और उसके दूरगामी परिणामों की तुलना करीब सात दशक पहले दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान जापान के दो शहरों हिरोशिमा और नागासाकी पर हुए उन परमाणु हमलों से की जा सकती है जो अमेरिका ने किए थे। उन हमलों में दोनों शहर पूरी तरह तबाह हो गए थे और डेढ़ लाख से अधिक लोग मारे गए थे। इस सिलसिले में भोपाल गैस त्रासदी के करीब डेढ़ वर्ष बाद अप्रैल 1986 में तत्कालीन सोवियत संघ के यूक्रेन में चेरनोबिल परमाणु ऊर्जा संयंत्र में हुए भीषण विस्फोट

को भी याद किया जा सकता है, जिसमें भारी जान-माल का नुकसान हुआ था।

करीब 3.50 लाख लोग विस्थापन के शिकार हुए थे तथा रूस, यूक्रेन और बेलारूस के करीब 55 लाख लोग विकिरण की चपेट में आए थे। हिरोशिमा और नागासाकी को 74 वर्ष, भोपाल गैस त्रासदी को 35 वर्ष और चेरनोबिल को 33 वर्ष बीत गए हैं, लेकिन दुनिया का शासक वर्ग अभी भी सबक सीखने को तैयार नहीं है। वह पूरी दुनिया को ही हिरोशिमा-नागासाकी, भोपाल और चेरनोबिल में तब्दील कर देने की मुहिम में जुटा है। दुनिया के तमाम विकसित देश इस मुहिम के अगुवा बने हुए हैं और हमारा देश उनका पिछलग्गू। देश में विकास के नाम पर जगह-जगह विनाशकारी परियोजनाएं जारी हैं—कहीं परमाणु बिजली घर के रूप में, कहीं औद्योगिकीकरण के नाम पर, कहीं बड़े बांधों के रूप में और कहीं स्मार्ट सिटी के नाम पर। इस तरह की परियोजनाओं को साकार रूप देने के लिए देश की तमाम जीवनदायिनी नदियों को बर्बाद किया जा रहा है। गंगा, यमुना, नर्मदा, क्षिप्रा आदि नदियां तो सर्वग्रासी औद्योगिकीकरण का शिकार होकर कहीं गंदे और जहरीले नाले में तब्दील हो गई हैं, तो कहीं अंधाधुंध खनन के चलते सूख कर मैदान में तब्दील हो चुकी हैं। पहाड़ों को काट-काट कर उन्हें खोखला किया जा रहा है और पर्यटन को बढ़ावा देने के नाम पर वहां कंक्रीट के जंगल उगाए जा रहे हैं।

औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के चलते जंगलों का दायरा लगातार सिकुड़ता जा रहा है। विकास के नाम पर सरकारों द्वारा और सरकार के संरक्षण में जारी इन आपराधिक कारगुजारियों से पर्यावरण बुरी तरह तबाह हो रहा है, जिसकी वजह से देश को आए दिन किसी न किसी प्राकृतिक आपदा का सामना करना पड़ता है—कभी प्रलयकारी बाढ़, कभी भूस्खलन और कभी भूकंप के रूप में। हाल के वर्षों में केदारनाथ, कश्मीर और चेन्नई की बाढ़ को मिसाल के तौर पर देखा जा सकता है। तथाकथित विकास की गतिविधियों के चलते बड़े पैमाने पर हो रहा लोगों का विस्थापन सामाजिक असंतोष को जन्म दे रहा है। यह असंतोष कहीं-कहीं हिंसक प्रतिकार के रूप में भी सामने आ रहा है।

‘किसी भी कीमत पर विकास’ की जिद के चलते ही देश की राजधानी दिल्ली समेत तमाम महानगर तो लगभग नरक में तब्दील होते जा रहे हैं। लेकिन न तो सरकारें सबक लेने को तैयार हैं और न ही समाज। सरकारों ने तो विदेशी निवेश के नाम पर विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए समूचे देश को आखेट स्थली बना दिया है। अमेरिका की यूनियन कार्बाइड कंपनी

ऐसी ही एक कंपनी थी, जिसके कारखाने से निकली जहरीली गैस आज भी भोपाल की सांसों में घुली हुई है।

तात्कालिक तौर पर लगभग दो हजार और उसके बाद से लेकर अब तक कई हजार लोगों की अकाल मृत्यु की जिम्मेदार विश्व की यह सबसे भीषणतम औद्योगिक त्रासदी आज करीब साढ़े तीन दशक बाद भी औद्योगिक विकास के रास्ते पर चल रही दुनिया के सामने एक सवाल बनकर खड़ी हुई है। इंसान को तमाम तरह की सुख-सुविधाओं के साजो-सामान देने वाले सतर्कताविहीन या कि गैरजिम्मेदाराना विकास का यह रास्ता कितना मारक हो सकता है, इसकी मिसाल भोपाल में 35 बरस पहले भी देखने को मिली थी और अब भी देखी जा रही है।

गैस रिसाव से वातावरण और आसपास के प्राकृतिक संसाधनों पर जो बुरा असर पड़ा, उसे दूर करना भी संभव नहीं हो सका। नतीजतन, भोपाल के काफी बड़े इलाके के लोग आज तक उस त्रासदी के प्रभावों को झेल रहे हैं। जिस समय देश औद्योगिक विकास के जरिए समृद्ध होने के सपने देख रहा है, तब उन लोगों की पीड़ा भी अवश्य याद रखी जानी चाहिए। सिर्फ उनसे हमदर्दी जताने के लिए नहीं, बल्कि भविष्य में ऐसी त्रासदियों से बचने के लिए भी यह जरूरी है।

इस त्रासदी के 35 साल बीत जाने के बावजूद प्रशासन अभी तक त्रासदी में मारे गए लोगों से जुड़े आंकड़े उपलब्ध नहीं करा सका है। गैर सरकारी संगठन जहां इस गैस कांड से अब तक 25 हजार से ज्यादा लोगों के मारे जाने का दावा करते हैं, वहीं राज्य सरकार के आंकड़ों के मुताबिक इस हादसे में 5295 लोग मारे गए और साढ़े पांच लाख लोग जहरीली गैस के असर से विभिन्न बीमारियों के शिकार हुए। मगर हकीकत में यह संख्या कहीं ज्यादा है, क्योंकि 1997 के बाद सरकार ने गैस पीड़ितों के बारे में पता लगाना बंद कर दिया। यूनियन कार्बाइड कारखाने के परिसर में रखे गए 350 मीट्रिक टन जहरीले रासायनिक कचरे वजह से भी हर साल बढ़ते रोगियों के आंकड़े नहीं जुटाए जा रहे हैं।

बीसवीं सदी की इस सबसे बड़ी औद्योगिक त्रासदी में हुई बेहिसाब जनहानि के बाद बड़ा मुद्दा जिम्मेदारी और जवाबदेही का सामने आया। अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनी यूनियन कार्बाइड की भारत स्थित इकाई का तत्कालीन अध्यक्ष वॉरेन एंडरसन जो उस समय बचकर हमारे राजनीतिक नेतृत्व की मेहरबानी से अमेरिका भाग गया था, उसकी तो कुछ साल पहले अमेरिका में मौत हो गई। वह अपनी कंपनी की आपराधिक लापरवाहियों का नतीजा भुगतते बिना ही दुनिया से चला गया।

8 • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2023

लेकिन पीड़ितों को उचित मुआवजा दिलाने का सवाल भी लटकता हुआ है। 1989 में भारत सरकार ने 47 करोड़ डॉलर मुआवजे के लिए कार्बाइड के साथ अदालत के बाहर समझौता कर लिया था। लेकिन जिस पैमाने की त्रासदी भोपाल ने देखी, उसकी तुलना में यह राशि नगण्य ही थी। बाद में सुप्रीम कोर्ट ने भी इस पर सवाल उठाए। लेकिन अपने देश में उद्योगों को उत्तरदायी बनाने की अपर्याप्त वैधानिक व्यवस्था और सरकारों की लापरवाही के कारण पीड़ितों को इंसाफ नहीं मिला तो नहीं ही मिला।

ऐसा नहीं है कि यूनियन कार्बाइड कंपनी के साथ सिर्फ तत्कालीन कांग्रेस सरकार की ही हमदर्दी रही। मध्य प्रदेश में 1990 से 1992 के दौरान रही तत्कालीन सरकार भी उसकी खिदमतगार रही है। गैस पीड़ितों को पर्याप्त मुआवजा दिलाने के लिए उसने भी सुप्रीम कोर्ट में मामले को प्रभावी तरीके से उठाने में भरपूर कोताही बरती। उसके बाद भी 15 वर्षों (2003 से 2018) तक राज्य में सत्तासीन सरकार की प्राथमिकता में यह मुद्दा कभी जगह नहीं बना पाया। हालांकि भाजपा गैस त्रासदी और मुआवजे के मामले को हर चुनाव के दौरान उठाकर कांग्रेस को कठघरे में खड़ा करती रहती है।

जहां तक यूनियन कार्बाइड कारखाने के परिसर में रखे 350 टन जहरीले रासायनिक कचरे का सवाल है, उसका निपटान सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बाद भी अन्यान्य कारणों से नहीं हो सका है और निकट भविष्य में भी होने के आसार नजर नहीं आ रहे हैं। कायदे से तो इस कचरे को ठिकाने लगाने की जिम्मेदारी यूनियन कार्बाइड कारखाने के प्रबंधन की थी, मगर जब सरकार खुद उसके बचाव में खड़ी हो गई तो उससे वाजिब सख्ती की उम्मीद कैसे की जा सकती थी! सरकार ने इस कंपनी के अमेरिकी प्रबंधन से अदालत के बाहर समझौता कर लिया था और रासायनिक मलबे को कारखाना परिसर में ही या तो जमीन के नीचे दबा दिया गया या फिर खुला छोड़ दिया गया।

तब से उस कचरे के निपटान की कोई पहल नहीं की गई। वर्ष 2004 में मध्यप्रदेश हाई कोर्ट में जहरीली गैस कांड संघर्ष मोर्चा की ओर से दायर याचिका में गैस प्रभावित बस्तियों में पर्यावरण को नुकसान पहुंचा रहे इस रासायनिक कचरे को नष्ट करने के आदेश देने की मांग की गई थी, जिस पर हाई कोर्ट ने केंद्र एवं राज्य सरकार को निर्देश दिए थे कि इस जहरीले कचरे को मध्य प्रदेश के धार जिले के पीथमपुर में इन्सीनेटर में नष्ट कर दिया जाए। लेकिन इस निर्देश का इसलिए पालन नहीं किया जा सका क्योंकि अनेक स्वयंसेवी संगठनों ने यह कहकर इसका विरोध किया था कि पीथमपुर में इसे

जलाने से वहां के पर्यावरण के साथ ही वहां रह रहे लोगों को नुकसान होगा। पीथमपुर में कचरा जलाने के विरोध को देखते हुए हाई कोर्ट ने गुजरात के अंकलेश्वर में यह जहरीला कचरा जलाने के निर्देश दिए। वहां की तत्कालीन सरकार ने जहरीला कचरा जलाने की अनुमति भी दे दी थी, लेकिन वहां के लोगों ने कचरा जलाने का विरोध किया। उसके बाद गुजरात सरकार ने भी सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर करके इस मामले पर पुनर्विचार का अनुरोध किया था, जिस पर शीर्ष अदालत ने जहरीले कचरे को नागपुर के निकट रक्षा अनुसंधान विकास संगठन के इंसीनेरेटर (एक प्रकार की भट्टी) में नष्ट करने के निर्देश दिए। लेकिन वहां भी गैर सरकारी संगठनों के विरोध के चलते महाराष्ट्र सरकार ने नागपुर में जहरीला कचरा जलाने से असमर्थता जता दी। इस सिलसिले में महाराष्ट्र विधानसभा में तो बाकायदा एक प्रस्ताव भी पारित किया गया।

गैस त्रासदी के 35 साल बाद भी कारखाने के गोदाम में रखे या जमीन में दबे जहरीले कचरे में तमाम कीटनाशक रसायन और लेड, मर्करी और आर्सेनिक मौजूद हैं, जिनका असर अभी कम नहीं हुआ है। यह खुलासा केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (सीपीसीबी) ने कारखाने के गोदाम में रखे जहरीले कचरे की जांच रिपोर्ट में किया है। इस कचरे की वजह से भोपाल और उसके आसपास का पर्यावरण और विशेषकर भूजल दूषित हो रहा है अनेक अध्ययन बताते हैं कि यूनियन कार्बाइड कारखाने वाले इलाके में रहने वाली महिलाओं में आकस्मिक गर्भपात की दर तीन गुना बढ़ गई है। पैदा होने वाले बच्चों में आंख, फेफड़े, त्वचा आदि से संबंधित समस्याएं लगातार बनी रहती हैं। उनका दिमागी विकास भी अपेक्षित गति से नहीं होता है। इस इलाके में कैंसर के रोगियों की संख्या में भी लगातार इजाफा हो रहा है, लेकिन कानूनी और पर्यावरणीय उल्लंघनों के चलते इस कचरे का समय रहते समुचित निपटान नहीं किया जा सका।

भोपाल गैस त्रासदी के बाद से ही मांग की जाती रही है कि औद्योगिक इकाइयों की जवाबदेही स्पष्ट की जाए। मगर अभी तक सभी सरकारें इससे बचती रही हैं। शायद उनमें इसकी इच्छाशक्ति का ही अभाव रहा है। इसी का नतीजा है कि भोपाल गैस त्रासदी के पीड़ित परिवारों को आज तक मुआवजे के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। जो लोग स्वास्थ्य संबंधी गंभीर परेशानियां झेल रहे हैं, उनकी तकलीफों की कहीं सुनवाई नहीं हो रही है। भोपाल गैस त्रासदी के मामले में जब औद्योगिक कचरे के निपटान में अब तक ऐसी अक्षम्य लापरवाही बरती जा रही है, तो वैसे मामलों में सरकारों से क्या उम्मीद की जा सकती है, जो चर्चा का विषय नहीं बन पाते।

(3 दिसम्बर, 2019 को पोस्ट) साभार : mehnatkash.in

समरथ • 9

अक्टूबर-दिसंबर, 2023

हिंदुस्तान में चल रही भाषाई सियासत पर गांधीजी का क्या नज़रिया था?

मोहम्मद नौशाद



महात्मा गांधी का मानना था कि अगर हमें अंजुमन तक अपनी पहुंच कायम करनी है तो उन तक उनकी भाषा के माध्यम से ही पहुंचा जा सकता है। इसलिए वे आसान भाषा के हामी थे जो आसानी से अधिक से अधिक लोगों की समझ में आ सके। लिहाजा गांधी हिंदी और उर्दू की साझी शक्ति में हिंदुस्तानी की वकालत किया करते थे।

एक ऐसा समय जहां राष्ट्रवाद की विचारधारा अंगड़ाइयां ले रही थी, चारों तरफ तोपों की आवाज़ गरज रही थी, गोलियों की बौछारें हो रही थीं। वहीं, दूसरी ओर लॉर्ड जार्ज का मानना था कि 'ताकत के बल-बूते सबको गुलाम बनाया जा सकता है।'

ऐसे माहौल में हिंदुस्तानी सियासत में एक दुबली-पतली कद-काठी में एक बाबा-ए-कौम ने दस्तक दी जो कोई और नहीं बल्कि अहिंसा के पुजारी, इंसानियत के चिराग महात्मा गांधी थे। जिनका नारा था 'करो या मरो' जिसने पूरे कौम को ललकारा और कहा कि हम खून-खराबा नहीं चाहते, हम ईंट का जवाब पत्थर से नहीं अहिंसात्मक प्रतिरोध से देना चाहते हैं और गुलामी की जंजीरों को तोड़ना चाहते हैं।

गांधी का व्यक्तित्व और उनका दर्शन हमारे लिए आइडिया ऑफ इंडिया है। उनके दर्शन की रोशनी में हिंदुस्तान की हर तरह की समस्याओं का समाधान मिलता है। गांधी के दर्शन को अगर देखें तो हिंदुस्तान से मुतअल्लिक सभी मुद्दों पर सोचा और उन्होंने अपना विचार प्रस्तुत किया चाहे वह सियासत के मैदान में हो, आर्थिक मामले हों या अदब के मैदान में। हम यहां गांधी की भाषा और सियासत से मुतअल्लिक नजरिये को समझने की कोशिश करेंगे।

गांधी और उर्दू ज़बान का मसला

इंसानियत के अलंबरदार गांधी जी को उर्दू ज़बान से जो लगाव और मोहब्बत थी उसका इज़हार उन्होंने मुख्तलिफ़ तरीकों से कई बार किया है—अपने भाषणों के अलावा खुद

भी फारसी लिपि में कई बार खत लिखे हैं।

मिसाल के तौर पर, दिसंबर 1939 में अंजुमन तरक़ीत उर्दू हिंद ने दिल्ली में अखिल भारतीय कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया था जिसमें अंजुमन के जनरल सेक्रेटरी मौलवी अब्दुलहक ने महात्मा गांधी को खत लिखकर जलसे में शिरकत की दावत दी थी। उसी खत के जवाब, जो गांधी जी अपने हाथ से लिखा था, पेश-ए-नजर है—

'भाई साहब आपका तार मिला था। मुझे दुख है कि आपके जलसे में मैं हाज़िर नहीं हो सकता हूँ। मेरी उम्मीद है कि जलसा हर तरह से कामयाब होगा। आप जानते हैं कि उर्दू जबान की तरक़ी चाहता हूँ। मेरा ख़्याल है कि सब हिंदू जो मुल्क की ख़िदमत करना चाहते हैं, उर्दू लिखें और मुस्लिम हिंदी सीखें।

आपका गांधी,

26.12.1939, वर्धा

लिहाजा गांधी जी के हाथ से लिखा हुआ यह खत तीन बातों की तस्दीक़ करता है—

पहला—गांधी खुद उर्दू ज़बान के जानकार थे

दूसरा—गांधी का उर्दू ज़बान के प्रति मोहब्बत और नज़रिया साथ ही पूरे मुल्क के लिए एक संदेश

तीसरा—भाषाई सांप्रदायिकों के लिए क्राररा तमाचा

राष्ट्रभाषा और गांधी

हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा को लेकर उन्होंने अपनी राय रखते हुए 1937 में छपने वाले अखबार हरिजन सेवक में लिखा था कि—

‘हम इस बात पर इत्तेफाक करते हैं कि हिंदुस्तानी को हिंदुस्तान का राष्ट्रभाषा होना चाहिए और वह उर्दू और देवनागरी दोनों लिखावटों में लिखी जानी चाहिए साथ ही सरकारी दफ्तरों और शिक्षा में दोनों लिखावटों को क़बूल कर लेना चाहिए।’

लखनऊ से शायी होने वाले उर्दू रिसाले नया दौर के गांधी विशेषांक 1996 में शामिल एक गुप्तगू का जिक्र करना चाहूंगा। यह गुप्तगू नया दौर के संपादक जनाब सैय्यद अमजद हुसैन और गांधी के हमराही, मुजाहिद-ए-आज़ादी, गांधीवादी विशंभर नाथ पांडे के बीच है।

विशंभर नाथ पांडे एक ऐसे परिवार से वाबस्ता थे जिनके खानदान के 35 लोगों को अंग्रेजों द्वारा 1857 के विद्रोह में कत्ल कर दिया गया था और औरतों को ज़िंदा जला दिया था। इस गुप्तगू में जब उनसे पूछा गया कि हिंदुस्तान में चल रही भाषाई सियासत पर गांधी का क्या नज़रिया था?

विशंभर नाथ पांडे इस सवाल का जवाब देते हुए साल 1947 में गांधी के प्रार्थना सभा दिल्ली में गांधी द्वारा दिए भाषा के मुताल्लिक उस तक्ररीर की याद दिलाते हैं, जिसमें गांधी कहते हैं—

लोग कहते हैं कि तू तो अरसे तक हिंदी साहित्य सम्मेलन में था। जब वहां था तो हिंदी की खूबियां बताता था। दक्षिण भारत में तूने हिंदी चलाई वहां के लोग तमिल मानते थे। वहां तूने हिंदी फैला दी और तूने हिंदी की बहुत ख़िदमत की। तो अब हिंदुस्तानी की बात क्यों करता है? इसका जवाब यह है कि मैं जिस हिंदी को मानता हूँ वह हिंदुस्तानी थी।

मैं इंदौर के साहित्य सम्मेलन में गया वहां मैंने कह दिया कि मैं जिस हिंदी को मानता हूँ उसे हिंदू भी बोलते हैं, मुसलमान भी बोलते हैं। मेरी हिंदी वह नहीं है जिसे हिंदी वाला बोलते हैं, मैं तो टूटी-फूटी हिंदी बोलता हूँ, जो सब समझ लेते हैं। मुझे न तो फ़ारसी उर्दू से लदी उर्दू चाहिए और न ही संस्कृत से भरी हिंदी। मुझे तो गंगा-

जमुना का संगम चाहिए।

ये लोग कहते हैं कि तू नासमझ है। लोग अंजुमन तरक़ी उर्दू की बात सुनेंगे, लोग हिंदी साहित्य सम्मेलन की बात सुनेंगे, तेरी बात कौन सुनेगा? लेकिन मेरा दिल तो बागी है वह कहता है मैं हिंदुस्तानी क्यों छोड़ूँ? जब प्रयाग जाते हैं तो संगम में नहाते हैं और कहते हैं कि संगम में स्नान लोगों को पवित्र करता है।

इसी तरह अगर उर्दू-हिंदी का संगम बना लूं तो मैं पावन हो जाऊंगा। अगर मैं अकेला रहूंगा तो भी यही कहूंगा कि मैं हिंदुस्तानी को ही राष्ट्रभाषा मानता हूँ। मैं मर जाऊंगा तो भी मैं अपने इरादे से हटने वाला नहीं हूँ—जैसा मेरा दिल कहता है, वैसे ही आप बनें तो अच्छा है

जब से मैं दक्षिण अफ्रीका से आया हूँ तभी से बराबर यह कहता हूँ कि हमारी राष्ट्रीय भाषा वही हो सकती है जिसको हिंदू और मुसलमान ज़्यादा से ज़्यादा तादाद में बोलते और लिखते हैं। तब तो वह देवनागरी लिपि में लिखी हुई या उर्दू लिपि में लिखी हुई हिंदुस्तानी ही हो सकती है। मैंने तो कहा है कि मैं उर्दू का समर्थन करता हूँ लेकिन सारी दुनिया का मित्र होते हुए भी मैं अंग्रेजी का समर्थन क्यों नहीं करता हूँ यह समझने लायक बात है—

‘अंग्रेजी भाषा का यहां स्थान नहीं है। अंग्रेजों ने यहां राज चलाया है और जो राज चलाता है वह अपनी भाषा भी चलाता है। अंग्रेजी विदेशी भाषा है स्वदेशी नहीं। इसलिए मुझको यह कहते हुए दुख नहीं बल्कि गर्व होता है कि उर्दू हिंदुस्तान की भाषा है और वह हिंदुस्तान में ही बनी है।’

हिंदुस्तानी ज़बान को लेकर अपनी बात रखते हुए तुलसीदास का हवाला देते हुए कहते हैं कि—

तुलसीदास के तो हम सब दीवाने हैं और होना भी चाहिए। उनकी रामायण में अरबी और फ़ारसी के शब्द भरे पड़े हैं। जो शब्द लोग बाज़ार में बोलते थे वही उन्होंने ले लिए। इसलिए जो तुलसीदास की भाषा है

वही हमारी भाषा है।

अगर आपको फ़ैसला करना है कि कौन हमारी राष्ट्रभाषा है तो मैं ये दावे के साथ कह सकता हूँ कि बाद में हिंदू मुझको चाहे मार डाले, काटे या कुछ भी करें। हमारी राष्ट्रीय भाषा वही हो सकती है जो देवनागरी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जाती है। अगर कोई मुझसे यह कहे कि 'मैं हिंदी का पक्ष कम लेता हूँ और इसलिए मैं कम हिंदुस्तानी हूँ, मुझको तो ऐसा लगता है कि जो आदमी उर्दू पर ऐतराज करता है वही कम हिंदुस्तानी है।'

लिहाजा गांधी का हिंदुस्तानी भाषा के प्रति उनका विचार सिर्फ सैद्धांतिक ही नहीं था बल्कि अपनी व्यवहारिक जिंदगी में भी उसके लिए प्रतिबद्ध थे।

गौरतलब है कि यह तस्वीर, जो नया दौर जर्नल में 'बापू दस्तखत के आईने में' के शीर्षक से शायी हुई थी, जिसमें गांधी बहुत ही हंसमुख मुद्रा में नज़र आ रहे हैं और इसमें बापू की ग्यारह भाषाओं में किए गए दस्तखत को शामिल किया गया है।

भाषा के मसले पर जवाहरलाल नेहरू और गांधी के विचार कमोबेश एक ही थे। नेहरू का मानना था कि गांधी अपने आंदोलन में इसलिए सफल हुए क्योंकि उन्होंने अपने और अवाम के बीच के फासले और रुकावटों को खत्म कर दिया था। ज़बान भी उन रुकावटों में से एक थी।

गांधी का मानना था कि अगर हमें अवाम तक अपनी पहुंच कायम करनी है तो उन तक उनकी भाषा के माध्यम से ही पहुंचा जा सकता है। इसलिए गांधी आसान भाषा के हामी थे जो अधिक से अधिक लोगों की समझ में आसानी से आ सके। लिहाजा गांधी हिंदी और उर्दू की साझी शकल में हिंदुस्तानी की वकालत किया करते थे।

गौरतलब है कि भारत के आईन का अनुच्छेद 29 हिंदुस्तान के सभी नागरिकों को अपनी भाषा की हिफाजत करने का अधिकार देता है और संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल 22 भाषाओं के फ़ेहरिस्त में एक उर्दू ज़बान भी है।

कानून के अनुसार, उत्तर प्रदेश में उर्दू और हिंदी आधिकारिक भाषाएं हैं और भारतीय संविधान इस बात का इजाजत देता है कि आठवीं अनुसूची में शामिल 22 भाषाओं में

से किसी में भी शपथ ली जा सकती है। इसके बावजूद भारतीय राजनीति में भाषाई सियासत के केंद्र में उर्दू रहा है।

मसलन, साल 2017 में आई एक खबर के अनुसार, अलीगढ़ नगर निगम में बहुजन समाज पार्टी के एकमात्र पार्षद मुशर्रफ़ हुसैन पर उर्दू में पद की शपथ लेने का फ़ैसला करने के बाद 'धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने' की कोशिश करने का मामला दर्ज किया गया।

लिहाजा यह पहली बार नहीं है जब उत्तर प्रदेश में भाषा के मुद्दे ने शपथ ग्रहण समारोह को प्रभावित किया है। मार्च 2017 में राज्य विधानसभा अध्यक्ष फतेह बहादुर ने 13 भाजपा सदस्यों को संस्कृत में शपथ लेने की इजाजत दी। वहीं, जब समाजवादी पार्टी के दो विधायकों ने उर्दू में शपथ ली, तो स्पीकर महोदय ने उन्हें फिर से हिंदी में दोहराया।

बेहद अफ़सोस है कि आज हम अपने राष्ट्रपिता के दर्शन को भूल गए हैं। दुनिया के मशहूर वैज्ञानिक आइंस्टीन ने ठीक ही कहा था कि आने वाले नस्लें हैरत करेंगी कि गांधी जैसे इंसान ने इस सरजमीं पर क्रदम रखा था और हमें तो खुश होना चाहिए कि गांधी हमारे अपने हैं।

हमारी पहली जिम्मेदारी बनती है कि अपने राष्ट्रपिता के दर्शन के आईने में सोचे और जिंदगी गुज़ारे जिनका पूरा जीवन का एक-एक क्रदम देशभक्ति और मानवता से लबरेज़ था। लिहाजा मौजूदा दौर की सियासत के मद्देनज़र यह ज़रूर कह सकते हैं कि गांधी को आज ज़रूर अफ़सोस और हैरत हो रहा होगा क्या यही हमारा हिंदुस्तान है जिसके लिए मैंने अपनी जान दी थी।

उनका हत्यारा कोई और नहीं हमारे देश के ही लोग थे। ऐसे में गांधी की यौम-ए-पैदाइश पर गुलज़ार साहब की पंक्तियां याद आती हैं—

सवा गज आसमां ओढ़े हुए सर पर,
बदन पर एक लंगोटी लपेटे,
प्रार्थना के लिए निकला था बाहर
किसी ने आगे बढ़कर,
तमंचा रख दिया सीने पे ये कहके
तुम्हारी राय से सहमत नहीं हूँ मैं
तमंचा चल रहा है,
वो राय मरती नहीं

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीतिक विज्ञान विभाग में शोधार्थी हैं।)

साभार : thewirehindi.com

12 • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2023

भारत को गांधी-मुक्त करने का कोई भी प्रयत्न विफल होने के लिए अभिशप्त है

अशोक वाजपेयी



कहते हैं कि महात्मा गांधी वाचाल या मुखर वक्ता नहीं थे। वे बोलते थे तो अक्सर यह लगता था कि बुदबुदा रहे हैं। उनके समय में आवाज़ को विस्तारित करने के आज जैसे सुघर-सक्षम माध्यम नहीं थे। अख़बार भी कम ही थे। टेलीविजन तो था ही नहीं। रेडियो का प्रचलन शुरू तो हो गया था पर बहुत लोकव्यापी नहीं हुआ था। फिर भी इस बुदबुदाहट को पता नहीं कैसे पूरा देश, प्रदेशों-धर्मों-जातियों-भाषाओं के आर-पार, सुनता था और कवि को यह कहना पड़ता था कि 'चल पड़े जिधर दो पग डगमग, चल पड़े कोटि जन उसी ओर।'

उस बुदबुदाहट को देश सुनता और उस पर अपने अगले कदम तय करता था। उस आवाज़ में उजाला था, दीप्ति और उज्वलता थी, साहस और आत्मीयता थी, नैतिक आवेग और बल थे, निर्भयता और मानवीयता थी, सजल-सच्ची भारतीयता थी। उसमें कोई नाटकीयता, चीख-पुकार, झूठ या नफ़रत, आत्मश्लाघा, दावे और झांसे, वायदे और जुमले आदि कुछ नहीं होते थे। वह सच की निर्दोष आवाज़ थी।

अगर हम चाहें तो इतने दशकों बाद उस आवाज़ को आज भी सारे 'तुमुल कोलाहल कलह में हृदय की बात' की तरह सुन सकते हैं। वह आवाज़ हमें याद दिलाती है कि आज भी साहस, अंतःकरण, नैतिक आचरण, निर्भयता संभव हैं। इसके लिए किसी मसीहा या धर्मनेता या उपदेशक या राजनेता की ज़रूरत नहीं, यहां तक कि महात्मा गांधी की भी नहीं यह आवाज़ अपने प्रणेता से भी मुक्त और स्वतंत्र है। यह हमारे लगातार विजड़ित किए और हो रहे अंतःकरण की आवाज़ है। यह समय है जब अंतःकरण के सारे पते सामाजिक जीवन, राजनीति, धर्म, मीडिया, शिक्षा आदि मिट गए हैं,

तब यह आवाज़ बार-बार उठती है और न हारती, न थकती है।

हमें वह मौका मिलते ही परेशान या बेचैन करती है। हम उससे पीछा छुड़ाकर भागते हैं पर वह हमें पछियाती रहती है। अंतःकरण को नष्ट या अपदस्थ करने का हर अभियान अंततः विफल होता है। कुछ लोग, चतुर-सुजान, इसे एक तरह की नैतिक अबोधता करार दे सकते हैं। वे राजनेताओं-धर्मगुरुओं-बुद्धिजीवियों-अध्यापकों-मीडियाकर्मियों आदि के अलावा साधारण लोगों में अंतःकरण के अवसान के उदाहरण दे सकते हैं। हम इस साक्ष्य को दरकिनार नहीं कर सकते।

पर उसके बरक्स उन हजारों उदाहरणों को भी अनदेखा नहीं कर सकते जब विपत्ति-संकट-कोरोना प्रकोप आदि के समय साधारण लोगों ने आगे बढ़कर दूसरों की, कई बार जोखिम उठाकर, मदद की, राहत दी। हमारे जीवन में ऐसे गांधी-क्षण आते-घटते रहते हैं।

सच तो यह है कि गांधी भारतीय मानस में धंस गए हैं और उन्हें वहां से अपदस्थ करने का जो सुनियोजित साधन-संपन्न अभियान भले चल रहा हो, वह कभी सफल नहीं हो सकता। आप किसी दल-विशेष से मुक्ति पाने की चेष्टा कर सकते हैं और उसमें कुछ देर के लिए सफल भी हो सकते हैं। पर भारत को गांधी-मुक्त करने का कोई भी प्रयत्न, निजी या सामुदायिक, विफल होने के लिए अभिशप्त है क्योंकि उसके सफल होने का अर्थ भारतीय आधुनिकता से मुक्ति जैसा कुछ होगा। यह संभव नहीं है, दिन-ब-दिन और हिंसक होते जा रहे भारतीय समाज में यह अहिंसक सचाई याद रखना और उसकी याद दिलाना ज़रूरी है।

साभार : thewirehindi.com

यह देश नेहरू के महान गुणों का जीवंत स्मारक है

आलोक श्रीवास्तव



जवाहरलाल नेहरू का वर्तमान समय में क्या अर्थ है भारत के लिए, जिसे गुजरे 59 साल हो गए और जो इतिहास का एक बीता हुआ दस्तावेज है।

क्या इस दस्तावेज पर भूलों, स्वार्थों, वंशवाद और ऐयाशी का घटनाक्रम अंकित है? जैसा कि बड़े पैमाने पर इन दिनों प्रचारित किया जा रहा है?

क्या इतना आसान होता है, कानाफूसियों, अफवाहों, दुष्प्रचार, गढ़ी कथाओं के जरिए इतिहास की एक बड़ी इबारत पर कालिख पोत देना।

देश में आज यही हो रहा है। दरअसल यह हो बहुत पहले से रहा था, पर दबे-छुपे ढंग से, बंद कमरों और सतर्क समूहों के बीच। नया सिर्फ यह है कि सत्ता और साइबर स्पेस ने इस सब को एक सामूहिक राय, एक स्थापित सत्य बनाने की कवायद शुरू कर दी है। असंख्य झूठी कहानियां साइबर स्पेस की यात्राएं कर रही हैं।

यह बहुत पीड़ा की बात है और एक बड़े नैतिक पतन की। यह इतिहास का विरूपीकरण है। यह उस देश को भूल जाना है, जिसके हम सब बाशिंदे हैं। उसके निर्माण में लगे ईंट-गारों को भूल जाना है। यह एक ऐसी कल्पना के मकड़जालों को अपने इर्द-गिर्द बुन लेना है, जिसके जहरपाशों में लिपटकर दम हमें ही तोड़ना होगा।

हिंदुस्तान इतिहास के अंधेरो से निकलकर आया है। और ये अंधेरे मामूली नहीं थे—सदियों लंबे थे। सदियों की अंधेरी सुरंगों में जो मशालें जलीं उनका नाम राजा राममोहन राय, रवींद्रनाथ, विवेकानंद, ज्योतिबा फुले, दयानंद, ईश्वरचंद, मोहनदास... था। यह फेहरिस्त लंबी है। ये मशालें जवाहरलाल के हाथों में पहुंचकर इस मुल्क की आजाद राहों की रोशनी

बनी थीं। यानी यह कहानी आधुनिक और नए भारत के नवनिर्माण की कहानी है। आज हम विश्व में जिस गरिमा से खड़े हैं, यह उसकी नींवों की कहानी है। यह भारत यों ही नहीं बन गया। इसके पीछे बहुत सारे मूल्यों-संघर्षों और उनके लिए किए गए अथक परिश्रम की कथा है।

इतिहास का कोई भी सरलीकरण भारत को किसी भी क्षण खत्म कर सकता है। यह सच है कि सदियों विदेशी हमलों से भारत की अंतरात्मा आहत होती रही। कई बार धार्मिक कट्टरताओं ने भारत के हिंदू जनमानस को गहरी चोटें पहुंचाईं, पर उतना ही बड़ा सच यह है कि हजारों साल की सभ्यता के उत्कर्ष वाला यह भारत इन हमलों के लिए स्वयं खुला हुआ था। बाहरी हमलावरों ने तो मौके का फायदा भर उठाया। इन हमलों से पहले ही हम अपने भविष्य को अंधेरो के हवाले कर चुके थे। आपसी लड़ाइयों और संकीर्णता ने हमें एक टूटा हुआ देश और विखंडित समाज बना दिया था और जिन कारणों से हम ऐसे बने थे कि कोई भी हमलावर मामूली धक्कों से हमें सदियों तक के लिए उजाड़ कर चला जाता था, वे कारण कोई रहस्यमय कारण नहीं हैं। वे कारण इतिहास में लुप्त भी नहीं हो गए। वे कारण आज भी मौजूद हैं, बल्कि वे आज ज्यादा ताकतवर हैं।

हमलावरों और विधर्मियों की यह कहानी तब तक अधूरी है, जब तक कि इसमें यह भी न जोड़ा जाए कि मध्यकाल आते-आते भारत का सारा प्राचीन गौरव कर्म-कांडों, जातीय झगड़ों, धर्मांधता, जाति-श्रेष्ठता के अहंकारों, अज्ञान और कायरता, फूट और विध्वंस में बदल चुका था। हम उस भारत को जो महाकाव्यों में वर्णित है और ऋद्धाओं ने जिसका उद्गान किया है, अपने ही हाथों से नष्ट कर रहे थे। यही हम आज

भी कर रहे हैं—थोड़ा बदले रूप में।

जब भी हम अतीत को याद करें तो यह आत्मवलोकन भी जरूरी है। और यह समझ बहुत अधिक जरूरी है कि आज हम जिस समय और संसार के सामने हैं, वहां सिर्फ एक सुदृढ़ राष्ट्र, जो आधुनिक हो, लोकतांत्रिक हो और धार्मिक विभेदों से मुक्त हो, ही अपने अस्तित्व को बनाए रख सकता है। सारी दुनिया में टूटे हुए मुल्क अपनी बर्बादियों की कहानियां लिए एक भयानक वर्तमान में खड़े हैं।

हिंदुस्तान में समस्याएं हैं, जवाहरलाल के समय में ये समस्याएं और ज्यादा विकराल थीं। दो सौ वर्षों में अंग्रेजों ने इस देश के आर्थिक संसाधनों को निचोड़ लिया था। देश में न उद्योग थे, न कृषि। एक कंगाल देश अधूरी आजादी के साथ विखंडित और हतप्रभ लाखों लाखों के श्मशान में खड़ा था। ब्रिटिश साम्राज्य ने इस निश्चित धारणा के साथ इस देश को छोड़ा था कि यह मुल्क बचा नहीं रह पाएगा। पर यह मुल्क न सिर्फ बचा रहा, बल्कि नेहरू की कई सीमाओं और कई ऐतिहासिक भूलों के बावजूद उनकी नेकनीयती, दूरदर्शिता, आधुनिक और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति वचनबद्धता और निर्भीक साहस से उजागर रास्तों पर मजबूती के साथ बढ़ा। यह देश नेहरू के उन महान गुणों का जीवंत स्मारक है।

आजकल यह फैशन हो गया है और शायद राज्य की विचारधारा भी कि नेहरू की छवि का विध्वंस करते समय न तो इतिहास के तथ्य ध्यान में रखे जाएं, न ही युग के संदर्भ। न ही उन जटिलताओं पर ध्यान दिया जाए और न ही इस विशाल राष्ट्र के सदियों से संचित अंतर्विरोधों और गहनतम समस्याओं पर निगाहें डाली जाएं, जिनके नागपाशों से बहुत कौशल से बचा रह कर धर्मनिरपेक्ष, आधुनिक और लोकतांत्रिक भारत अपनी रीढ़ों पर खड़ा हो सका है। इस देश का एक भविष्य है। इस देश के पास एक सपना है। इस देश के पास समूची मानवता के लिए एक संदेश भी है।

पर हमारी कोई भी गलत सोच, इतिहास पर अर्धसत्यों का आरोपण और दुष्प्रचार इस सपने को, इस भविष्य को न सिर्फ तोड़ेगा, बल्कि उन हजारों सोये हुए इतिहास के प्रेतों को फिर से जगा देगा, जिनसे अथक संघर्ष इस मुल्क ने किया है। जिनसे वह बार-बार बच निकला है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए भारत राष्ट्र के भविष्य-निर्माण के

एक अथक और निश्चल सेनानी के प्रति हमारा दुराग्रह, हमारा दुष्प्रचार और कलुषित भावनाएं अधिक-से-अधिक उसकी छवि को धूमिल कर देंगी, पर छवियों को तो समय यों भी धीरे-धीरे धूमिल कर ही देता है, परंतु अपने ही हाथों यह करके हम अपने देश के साथ जो कुछ कर रहे होंगे, उसके लिए इतिहास के पास कोई क्षमा नहीं होगी।

यदि हम नेहरू के इसलिए विरोधी हैं, कि वे धर्मनिरपेक्ष थे, वे आधुनिक-बोध रखते थे, जिसमें एक धर्म के रूप में हिंदू धर्म के प्रति असीम आदर था, पर उसकी धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विरोध भी, कि वे समाजवादी रुझान के थे, वे आदर्शवादी थे, वे योजना आयोगों के जनक थे, वे इस ऐतिहासिक सच के पैरोकार थे, कि भले भारत विभाजित हो गया हो, पर व्यावहारिक रूप से यह असंभव है कि भारत के सारे मुसलमान यहां से उखड़ कर पाकिस्तान चले जाएं, कि वे भारत को धर्म की राजनीति से मुक्त रखना चाहते थे, तो हमें यह निश्चित जान लेना चाहिए कि हम जो कुछ भी हों, इस देश के वर्तमान और भविष्य के साथ बहुत बड़ा खिलवाड़ करने जा रहे हैं। हां, इस बात की गुंजाइश हमेशा है कि नेहरू से जहां कहीं जो चूकें हुई हों, जहां कहीं वे विफल रहे हों, उसे सुधारा जाए। पर उन्हें खलनायक बनाने की प्रवृत्ति जिनकी है, वे राष्ट्र के सबसे बड़े खलनायक सिद्ध होंगे, यह बात याद रखी जानी चाहिए।

आजादी के बाद के विकट और दुविधाग्रस्त समय में जिस अडिग निश्चय और दूरदर्शिता के साथ नेहरू भारत-निर्माण की परियोजना में जुटे थे, आज का भारत उसी परियोजना का परिणाम है, अपनी उन समस्त अच्छाइयों के साथ जो, इस आगे बढ़ते हुए भारत की शक्ति हैं, और उन समस्त बुराइयों के साथ भी जो कल भी उसके रास्ते का अवरोध थीं, और आज भी उसके मार्ग की बाधा हैं। नेहरू की ऐतिहासिक सफलताएं इस देश के आधुनिक इतिहास का सबसे उज्वल पहलू हैं। और उनकी विफलताएं इस बात की चुनौती हैं, कि उन्हें अब सशक्त और संसाधन संपन्न भारत दूर करे, न कि इतिहास में उनके तर्क ढूँढ़े और लगातार एक ऐसी विचारधारा को पुष्ट करे, जो इस क़दर अतीतग्रस्त हो कि अपने देश के वास्तविक स्वरूप और संभावनाओं को ही नष्ट कर दे।

साभार : अहा! जिंदगी

ज्योतिबा फुले :

वह महात्मा जिन्हें अपना गुरु मानते थे

बाबा साहब अंबेडकर

देवांशु देव



महात्मा ज्योतिबा फुले का जन्म 11 अप्रैल, 1827 को पुणे में एक माली परिवार में हुआ था। उन्होंने देश में दलितों और महिलाओं को सामाजिक न्याय देने के लिए संघर्ष की शुरुआत की। यही कारण है कि संविधान के निर्माता डॉ. भीमराव अंबेडकर उन्हें अपना तीसरा गुरु मानते थे।

महात्मा ज्योतिबा फुले की गिनती महात्मा गांधी से पहले सबसे महान समाज-सुधारकों में होती है। वह पूरी जिंदगी छुआछूत, अशिक्षा, महिलाओं के खिलाफ अत्याचार जैसी सामाजिक बुराइयों के खिलाफ लड़ते रहे।

महात्मा ज्योतिबा फुले का जन्म 11 अप्रैल, 1827 को पुणे में हुआ था। उनका पूरा नाम ज्योतिराव गोविंदराव फुले था। उनका परिवार माली का काम करता था। यही कारण है कि उनके नाम के साथ 'फुले' उपनाम जुड़ा था। उनके पिता का नाम गोविन्दराव था और माँ का चिमणाबाई। जब ज्योतिबा फुले सिर्फ एक साल के थे, तो उनकी माँ चल बसीं। जिसके बाद उनका लालन-पालन सगुणाबाई नाम की महिला ने किया।

ज्योतिबा फुले की प्रारंभिक पढ़ाई मराठी में हुई। 1840 में उन्होंने सावित्री बाई से शादी की, जो आगे चलकर खुद एक महान समाजसेविका के रूप में उभरीं। दोनों ने मिलकर दलितों और महिलाओं के उत्थान के लिए कई प्रयास किए। महिलाओं को शिक्षा से जोड़ने के लिए दोनों ने मिलकर 1848 में पहला गर्ल्स स्कूल खोला।

गरीबों और दलितों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए ज्योतिबा फुले ने 1873 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। सामाजिक न्याय के प्रति उनके संघर्ष को

देखते हुए, 1888 में उन्हें महात्मा की उपाधि दी गई।

कैसे मिली प्रेरणा

1818 में मराठा और अंग्रेजों के बीच 'भीमा-कोरेगांव युद्ध' हुआ। इस लड़ाई में अंग्रेजों की जीत हुई। कहा जाता है कि इस लड़ाई में, अंग्रेजों की ओर से महार समुदाय के सैनिकों ने अपने अस्मिता की लड़ाई के तौर पर बड़ी संख्या में हिस्सा लिया, जिन्हें अछूत समझा जाता था।

हालांकि, इसके बाद भी दलितों के जीवन में कुछ खास बदलाव नहीं आया। धीरे-धीरे ईसाई मिशनरियों ने उन्हें शिक्षा से जोड़ा। कहा जाता है कि ज्योतिराव जब 7 साल के थे, उन्होंने स्कूल जाना शुरू कर दिया। लेकिन, सामाजिक दबाव के आगे उनके पिता विवश हो गए और उन्हें अपनी स्कूल छोड़नी पड़ी।

पढ़ाई छूटने के बाद, ज्योतिबा खेती में अपने पिता का हाथ बंटाने लगे। लेकिन, उनकी जिज्ञासा और प्रतिभा ने उर्दू-फारसी के विद्वान गप्फार बेग और ईसाई पादरी लिजीट को अपना कायल बना दिया और उन्होंने गोविंदराव को अपने बेटे को स्कूल भेजने के लिए समझाया। गोविंदराव ने भी उनकी बात मान ली और इस तरह ज्योतिबा फुले की पढ़ाई फिर से शुरू हो गई।

जैसा कि उनकी प्रारंभिक शिक्षा मराठी में ही हुई।

1847 में उन्होंने स्कॉटिश मिशन के तहत अंग्रेजी स्कूल में दाखिला ले लिया। जिससे उन्हें आधुनिक शिक्षा की शक्ति का अंदाजा हुआ और उनके दिलो-दिमाग में न्याय और आजादी के विचार ने अपना घर बना लिया। अब वे हर चीज में तर्क और न्याय ढूँढ़ने लगे।

ज्योतिबा फुले को अहसास हुआ कि यदि भारत में दलितों और महिलाओं को आगे बढ़ना है, तो शिक्षा के अलावा कोई विकल्प नहीं है। इसी विचार के तहत उन्होंने सबसे पहले सावित्रीबाई फुले को शिक्षा से जोड़ा और उन्हें यह अहसास कराया कि महिला हों या पुरुष, दोनों बराबर हैं। दोनों को इस मुहिम में सगुणाबाई, फातिमा शेख जैसी कई सहयोगियों का भरपूर साथ मिला।

इसी विचार को जमीन पर उतारने के लिए, उन्होंने 1848 में देश का पहला गर्ल्स स्कूल खोला और हजारों वर्षों से शोषित समुदाय के न्याय के लिए खुलेआम धार्मिक ग्रंथों को चुनौती दी। इस तरह सावित्रीबाई फुले न सिर्फ इस स्कूल की, बल्कि पूरे देश की पहली महिला शिक्षिका बनीं।

बता दें कि ज्योतिबा फुले 1873 में मूल रूप से मराठी में लिखी अपनी किताब 'गुलामगिरी' में धार्मिक ग्रंथों, देवी-देवताओं और सामंतवादी ताकतों के झूठे दंभ पर चोट करते हुए, शूद्रों को हीन भावना त्याग कर, आत्मसम्मान के साथ अपनी जिंदगी जीने के लिए प्रेरित किया है। इस किताब में उन्होंने ईंसानों में भेदभाव को जन्म देने वाले विचारों पर तार्किक तरीके से हमला किया है।

साथ ही, महिला शिक्षा को लेकर ज्योतिबा फुले का विचार था, 'पुरुषों ने महिलाओं को शिक्षा से सिर्फ इसलिए वंचित रखा है, ताकि वे अपनी अधिकारों को कभी समझ न सकें।'

ज्योतिबा फुले ने न सिर्फ महिलाओं को शिक्षा से जोड़ने का प्रयास किया, बल्कि विधवाओं के लिए आश्रम बनवाए, उनके पुनर्विवाह के लिए संघर्ष किया और बाल विवाह को लेकर लोगों को जागरूक किया।

हालांकि, वर्षों के संघर्ष के बाद, उन्हें अहसास हुआ कि यदि दलितों और महिलाओं को मुख्यधारा से जोड़ना है, तो जाति व्यवस्था को धार्मिक और आध्यात्मिक आधार देने वाले व्यवस्थाओं पर चोट कर, कुरितियों को खत्म

करना होगा। इसलिए 24 सितंबर 1873 को उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की।

इसका मूल उद्देश्य तमाम पौराणिक मान्यताओं का विरोध कर, समाज को एक नए सिरे से परिभाषित करना था।

भीमराव अंबेडकर, ज्योतिबा फुले को मानते थे अपना गुरु

1891 में भीमराव अंबेडकर के जन्म से कुछ महीने पहले ही महात्मा ज्योतिबा फुले ने इस दुनिया को अलविदा कह दिया था। लेकिन, संविधान के निर्माता डॉ.अंबेडकर ने बुद्ध और कबीर जैसे महात्माओं के साथ ज्योतिबा फुले को अपना तीसरा गुरु माना।

अंबेडकर ने अंग्रेज इतिहासकारों द्वारा लिखे गए भारत के झूठे इतिहास और प्रपंचों के खिलाफ लिखी अपनी किताब 'शूद्र कौन थे?' को ज्योतिबा फुले को समर्पित करते हुए लिखा, 'उन्होंने हिन्दू समाज में छोटी जाति के लोगों को उच्च जाति के प्रति अपनी गुलामी की भावना के खिलाफ जगाया और सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना को अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाने से भी कहीं जरूरी बताया। यह किताब महात्मा फुले की स्मृति में सादर समर्पित।'

दलितों और महिलाओं के अलावा ज्योतिबा फुले ने किसानों की समस्याओं को भी एक नया विमर्श दिया। 1882 में लिखी अपनी किताब 'किसान का कोड़ा' में उन्होंने किसानों की दुर्दशा को दर्शाया है।

वह किताब में लिखते हैं, 'अंग्रेज अधिकारी, ब्राह्मणों के प्रभाव में आकर अपनी जिम्मेदारियों से भागते हैं और वे सेठ-साहूकारों के साथ मिलकर किसानों का शोषण करते हैं और यहाँ से धन ऐंठकर अपने मुल्क यूरोप पहुंचाते हैं। बेबस किसान सब बर्दाश्त करता रहता है।'

28 नवंबर 1890 को ज्योतिबा फुले के गुजरने के बाद, उनकी पत्नी सावित्रीबाई फुले ने 'सत्यशोधक समाज' की जिम्मेदारी संभाली और सामाजिक बदलाव की अपनी लड़ाई को जारी रखा।

वास्तव में, सामाजिक न्याय के संदर्भ में 'सत्यशोधक समाज' द्वारा दिखाए गए रास्ते आज करीब डेढ़ सौ वर्षों के बाद भी प्रासंगिक हैं।

संपादन—जी एन झा

साभार : <https://hindi.thebetterindia.com>

भिखारी ठाकुर : भोजपुरी के शेक्सपियर

नलिन वर्मा



भोजपुरी बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश और नेपाल के तराई इलाकों में बड़े पैमाने पर बोली और समझे जाने वाली भाषा है। भोजपुरी फिल्म और गीत-संगीत के अलावा लोक संगीत का दायरा भी काफी विस्तृत है और इसकी एक पहचान के तौर पर भिखारी ठाकुर हमेशा याद किए जाते रहेंगे।

आधुनिकतम तकनीक के दौर में लोक संस्कृति को बचाने का संकट है, ऐसे में भोजपुरी समाज के लिए भिखारी ठाकुर की विरासत को बचाने की चुनौती है।

भिखारी ठाकुर का जन्म बिहार के एक गरीब और उपेक्षित हजाम परिवार में 18 दिसंबर, 1887 को हुआ था। गरीबी और वर्ण व्यवस्था के तहत निचली जाति में आने के चलते भिखारी ठाकुर को पढ़ने लिखने का मौका नहीं मिला।

बचपन में वे गाय-भैंस चराने लगे थे। जानवरों को चराने के समय ही भिखारी ठाकुर अपनी मधुर आवाज में गाते गुनगुनाते थे। वे पढ़ तो नहीं सकते थे लेकिन सुनकर याद करने लगे और इस दौरान उन्होंने रामचरितमानस की चौपाइयां, कबीर के निर्गुण भजन और रहीम के दोहों को कंठस्थ किया। यहां से शुरूआत करके वे भोजपुरी गीत संगीत की दुनिया के सबसे बड़े आयकन बने।

बचपन में ही उनकी शादी मत्तुआ देवी से हो गई और जल्दी ही वे शिलानाथ के पिता भी बन गए। जानवरों को चराने के अलावा परिवार का गुजर बसर चलाने के लिए भिखारी ठाकुर अपने पुश्तैनी नाई का काम करने लगे थे। 1927 में अकाल के बाद वे आजीविका कमाने के लिए पहले खड़गपुर और फिर बाद में जगन्नाथपुरी गए।

दूसरे राज्य गए पर जिंदगी नहीं बदली

हिंदू धर्म के रीति रिवाजों और संस्कारों के लिए हजाम, ब्राह्मणों की तरह ही महत्वपूर्ण माने जाते हैं। उदाहरण के लिए हजाम की जरूरत मुंडन, जनेऊ, शादी और श्राद्ध सभी जगहों पर होती है। लेकिन सामाजिक पायदान पर उनकी हैसियत पुजारी जितनी नहीं होती है। उन्हें 'निचली जाति' का माना जाता है, यही वजह है कि भिखारी ठाकुर को भी अपने जीवन में खराब व्यवहार और अपमान का दंश झेलना पड़ा। लेकिन उनकी गायकी ने उन्हें सामाजिक जटिलताओं

और विसंगतियों की तरफ देखने का अवसर भी मुहैया कराया। उन्होंने समाज को बारीकी से देखा और उसे लोकगीतों के माध्यम से आम लोगों के सामने रखा।

आजीविका के सिलसिले में उन्हें प्रवासी मजदूर के तौर पर दूसरे राज्य में जाना पड़ा। वहां भी उन्होंने प्रवासी मजदूरों के दर्द और तकलीफ को नजदीक से देखा। भिखारी ठाकुर उसे विदेश कहते थे। विदेश जाकर भी कमाने से उनके परिवार की हैसियत में कोई बदलाव नहीं आया। कुछ साल बाहर रहने के बाद वे अपने गांव कुतुबपुर लौट आए थे, ताकि सुख दुख अपने परिवार और गांवों के लोगों के बीच ही मना सकें।

भिखारी ठाकुर अपने समय में किसी जीनियस से कम नहीं थे। वे पढ़े लिखे नहीं थे, सामाजिक हैसियत भी नहीं थी लेकिन लोगों के चेहरे पर मुस्कान लाना जानते थे, लोगों का मनोरंजन करना जानते थे।

गायकी के अलावा अभिनय और नृत्य को भी उन्होंने साध लिया था। वे कई तरह के वाद्य यंत्रों को भी बजाने लगे थे। इतना ही नहीं उन्होंने गांव के लोगों को इसकी ट्रेनिंग देकर एक मंडली बना ली। वे अपनी नाट्य मंडली के संगीतकार और निर्देशक भी खुद ही थे। उन्होंने गांव के लोगों में से गायक, अभिनेता, लबार (जोकर) और संगीतकारों की टीम बनाई।

भिखारी ठाकुर के पास नाटक करने के लिए कोई मंच नहीं था। वे चौकी (लकड़ी की चारपाई) को किसी पेड़ के नीचे रखकर स्टेज बना लेते थे और ढोलक, झाल और मजीरा के साथ लोगों का मनोरंजन करते थे। असल मायनों में भिखारी ठाकुर को भारत में ओपन एयर थिएटर का जनक माना जा सकता है।

भिखारी ठाकुर की नाट्य मंडली कजरी, होली, चैता, बिरहा, चौबोला, बारामासा, सोहार, विवाह गीत, जंतसार, सोरठी, पचरा, भजन9कीर्तिन हर तरह से लोगों का मनोरंजन करने लगी थी। लेकिन भिखारी ठाकुर अपने कविताई अंदाज में जिस तरह से सामाजिक सच्चाइयों को पेश करते थे, उसमें मनोरंजन के साथ तंज भी होता था।

उन्होंने अपनी टीम के साथ सभी तरह की सामाजिक कुरीतियों, मतलब समाज में उपेक्षित लोगों के साथ होने वाले

अत्याचार, धार्मिक रुढ़ियों, संयुक्त परिवार के घटते चलन, बाल विवाह, बेमेल विवाह, विधवाओं का दर्द, बुजुर्गों की उपेक्षा, नशाखोरी, दहेज प्रथा और साधु संतों के वेश में ठगताई जैसे तमाम मुद्दों पर लोक गीत बनाए।

भिखारी ठाकुर किस प्रतिभा के धनी थे, इसका अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि वे खुद स्कूल नहीं गए लेकिन उन्होंने लोकगीतों पर 29 किताब लिखीं जो कैथी लिपि में थीं। इन किताबों को बाद में देवनागरी लिपि में बदला गया। इनका पूरा संकलन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने भिखारी ठाकुर रचनावली के नाम से प्रकाशित किया है। इनमें बेटी वियोग, विदेशिया, ननद भौजाई, गबर घिचौर और कलियुग का प्रेम जैसे लोक नाटक बेहद चर्चित रहे।

बेटी वियोग, शादी के बाद घर परिवार से बेटी की विदाई के दुख पर आधारित लोक नाटक है, तो विदेशिया उस महिला के दर्द की दास्तां है जिसका पति आजीविका कमाने के लिए विदेश (दूसरे राज्य) गया हुआ है। ननद-भौजाई, एक बहन और उसके भाई की पत्नी के बीच नॉकड्रॉक भरे रिश्ते की कहानी है। गबरघिचौर नाटक, एक महिला के सेक्सुअल अधिकारों पर टिप्पणी करता है।

हिंदी साहित्य में भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों को जागरण का वाहक माना जाता है। लेकिन उससे काफी पहले भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों में महिलाओं के दर्द और तकलीफ को बखूबी उकेरा है। विदेशिया नाटक की महिला किरदार अपने पति को याद करती है, - पिया मोरा गैलन परदेस, ए बटोही भैया। रात नहीं नीन, दिन तनी ना चैनवा।

भिखारी ठाकुर के लोक नाटकों पर महान हिंदी साहित्यकार राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है, “हमनी के बोली में कितने जो हवअ, केतना तेज बा, इ सब अपने भिखारी ठाकुर के नाटक में देखिला। भिखारी ठाकुर हमनी के अनगढ़ हीरा हवें।”

भिखारी ठाकुर के एक दूसरे नाटक गबरघिचौर में महिला का पति विदेश कमाने गया हुआ है और वह गांव के किसी अन्य शख्स के साथ संबंध बना लेती है और अपने सेक्सुअल अधिकारों की वकालत करती है, “घर में रहे दूध पांच सेर, केहू जोरन देहल एक धार। का पंचायत होकात बा, घीऊ साफे भेल हमार।”

भिखारी ठाकुर की करीब तीन चौथाई रचनाएं पद्य के तौर पर हैं जिनमें मेलोड्रामा, भक्ति और सांसारिक प्रेम, उदासी और एकजुटता की खुशी, प्रेम, घृणा और क्रोध, हास्य और तीखे व्यंग्य छंदों में लिखे गए हैं। आमतौर पर, उनके लोक नाटकों के पात्र दलित और निचली जातियों से आते हैं, यह किरदारों के नामों से भी पता चलता है। उपदार, उदवास, झंटुल, चटक, चेथरू, अखाजो और लोभा जैसे नाम उनके किरदारों के रहे हैं।

भिखारी ठाकुर के दौर में ग्रामीण परिवेश में महिला कलाकार

आसानी से नहीं मिलते होंगे, यही वजह थी कि वे पुरुषों को महिलाओं की वेशभूषा में महिला किरदार निभाने के लिए प्रेरित करने लगे थे।

इस तरीके के जरिए उन्होंने महिलाओं के मुद्दों को कुशलतापूर्वक दर्शाया और मंचित किया। भिखारी ठाकुर से प्रेरणा लेते हुए दूसरे लोक कलाकारों ने भी नाच पार्टियों का गठन किया, जो टीवी और इंटरनेट के दौर से पहले ग्रामीण समाज में लोगों का मनोरंजन किया करते थे।

आज तकनीक का दौर बढ़ा है और मनोरंजन के तमाम नए विकल्प मौजूद हैं। लेकिन क्या उन सवालों का हल मिल गया है जिसे भिखारी ठाकुर ने अपने लोक नाटकों के माध्यम से उठाया था?

आज भी समाज में नशाखोरी और दहेज प्रथा मौजूद है। समाज में आज भी असमानता, भेदभाव और अन्याय मौजूद हैं। जाति और धर्म के नाम पर सामाजिक उत्पीड़न हो रहा है। समाचार पत्रों और समाचार चैनलों में उपेक्षित लोगों और महिलाओं पर अत्याचार की ढेरों कहानियां आती रहती हैं और सरकारें इस समस्या से उबरने के लिए नए कानून बनाने और उसे लागू करने में व्यस्त हैं।

ऐसे में भिखारी ठाकुर की विरासत को बचाए रखना बेहद जरूरी है। राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही जोर देकर कहा है, “भिखारी ठाकुर की कला और साहित्य में सभी गुण विद्यमान हैं। बस जरूरत इस बात की है कि उनकी कृतियों वाले सोने की खान से चमचमाते आभूषण तैयार किए जाएं।” जाहिर है, राहुल सांकृत्यायन ने भिखारी ठाकुर पर और अधिक शोध और अध्ययन की जरूरत बताई है।

कुछ विश्लेषक शिष्टता के साथ भिखारी ठाकुर की तुलना 16वीं सदी के विख्यात नाटककार शेक्सपियर से करते हैं और उन्हें ‘भोजपुरी का शेक्सपियर’ के रूप में याद करते हैं। लेकिन शैक्षणिक दृष्टि से यह अधिक विवेकपूर्ण है कि भिखारी ठाकुर को भिखारी ठाकुर ही रहने दिया जाए और भारतीय संदर्भ में उनका अधिक अध्ययन किया जाए।

भिखारी ठाकुर के जीवन का बड़ा हिस्सा ग्रामीण इलाकों में आम लोगों को परेशान करने वाले मुद्दों पर जीवंत प्रस्तुतियों में गुजरा। उन्होंने और उनकी मंडली ने बिहार, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और नेपाल के कुछ हिस्सों की यात्राएं भी कीं, लेकिन उनकी कला मॉरीशस, गायाना, सूरीनाम, टोबैगो और कई अन्य अफ्रीकी देशों तक पहुंची जहां भारत से गिरमिटिया मजदूर गए थे।

भिखारी ठाकुर अपने परिवेश में रामलीला और रासलीला देखते हुए बड़े हुए थे। जीवन के अंतिम सालों में उन्होंने अपना अधिकांश समय भगवान राम, सीता, कृष्ण और गणेश की भक्ति में बिताए। विरासत में लोक नाटक और लोक कथाओं के विशाल भंडार छोड़कर 10 जुलाई 1971 को पैतृक गांव में भिखारी ठाकुर का निधन हुआ था।

साभार : bbc.com/hindi

नई संभावनाओं की तलाश करती बॉडी ऑन द बैरिकेड्स

आलोक राजपूत



जेएनयू प्रोफेसर ब्रह्म प्रकाश की किताब 'बॉडी ऑन द बैरिकेड्स - लाइफ, आर्ट एंड रेसिस्टेंस इन कंटेंपेरी इंडिया' पन्ना-दर-पन्ना समझाती है कि फासीवाद के इस दौर में कभी भूमि सुधार की मांग करने वाले लोग अब राज्य द्वारा उनके घरों पर बुलडोजर चलाने के आपराधिक कृत्य का विरोध तक नहीं कर पा रहे हैं।

नीरज घेवान कृत फिल्म 'मसान' में बनारस के घाट पर शव दहन का काम करने वाला डोम जाति का एक लड़का अपनी प्रेमिका की मृत्यु के बाद चिल्लाकर कहता है कि 'ये साला दुख काहे खतम नहीं होता बे'। भारतीय गणतंत्र में वंचित तबकों से आने वाले शोषित नागरिकों के जीवन में व्याप्त इन्हीं तमाम दुखों को परत-दर-परत सांत्वना देते हुए जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ब्रह्म प्रकाश की नई किताब 'बॉडी ऑन द बैरिकेड्स- लाइफ, आर्ट एंड रेसिस्टेंस इन कंटेंपेरी इंडिया' नई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संभावनाओं की तलाश करती है।

210 पन्नों में फैले आठ अध्यायों से गुजरते समय ऐसा लगता है कि इस भीषण समय में जब दिल्ली की हवा में प्रदूषण की मात्रा को जांचने के लिए किसी वैज्ञानिक तकनीक की कोई जरूरत नहीं रह गई है, बल्कि धुएं के सैलाब को नंगी आंखों से भी परखा जा सकता है, तब हम सांस लेने के मूल अधिकार के उलट शायद ये डिबेट नहीं कर सकते हैं कि साफ हवा में सांस लेने का अधिकार सिर्फ उन्हीं नागरिकों को होगा जो बाजार से एअर प्यूरीफायर खरीदने की आर्थिक हैसियत रखते हैं।

मूलतः ब्रह्म प्रकाश की किताब न पर्यावरणीय प्रदूषण की विवेचना करती है और न ही डोम जाति के इतिहास की, बल्कि पन्ना-दर-पन्ना हमें ये समझाती है कि फासीवादी एवं निरंकुश दक्षिणपंथ के इस दौर में वो लोग जो एक

समय भूमि सुधार की मांग किया करते थे, अब राज्य के द्वारा अपने घरों को बुलडोजर से तोड़े जाने के आपराधिक कृत्य का भरसक विरोध तक नहीं कर पा रहे हैं। और जब कोरोना महामारी के दौरान शवों के अंतिम संस्कार के लिए न्यूनतम सुविधाएं देने में भी राज्य पूरी तरह से विफल हो गया है तब इस बिंदु पर बात नहीं की सकती कि नीचतम जातियों का दुख नीच जातियों से कितने गुना बड़ा है।

लेखक इसी बात को आगे बढ़ाते हुए अलग-अलग संदर्भ से समझाने की कोशिश करता है कि जब राज्य अपने नागरिकों को न्यूनतम स्वास्थ्य सुविधाएं देने की बजाय इस योजना पर विचार करने लगा है कि नागरिकों को लिंगिंग करके मौत के घाट उतारा जाए या फिर गैस चेंबर में बंद करके, हम इस विषय पर बात नहीं कर सकते कि नागरिक आंदोलनों का चरित्र अहिंसक होना चाहिए क्योंकि घोर हिंसक राज्य नागरिकों के न्यूनतम विरोध को भी संगीन हिंसा के रूप में परिभाषित करने पर उतारू है।

शुरुआत में किताब पढ़ते हुए पाठक को ऐसा महसूस हो सकता कि शायद लेखक अनायास ही राज्य की सामान्य कठोरता को घोर बर्बरता के रूप में देख रहा है लेकिन कहानी जैसे-जैसे आगे बढ़ती है आपको ये समझ आने लगता है कि स्थिति वास्तव में अति- गंभीर है। उदाहरण के तौर पर, अमेरिका में पिछले दिनों हुए 'ब्लैक लाइव्स

मैटर' आंदोलन को याद कीजिए। 2020 में इस आंदोलन की शुरुआत उस समय हुई थी जब गोरी चमड़ी वाले एक पुलिस अधिकारी ने जार्ज फ्लॉयड नाम के एक अश्वेत व्यक्ति की हत्या कर दी थी। हुआ कुछ ऐसा था कि पुलिस अधिकारी ने फ्लॉयड के गले पर पैर रख दिया था और फ्लॉयड के लगातार ये कहने के बावजूद कि वो सांस नहीं ले पा रहा है अधिकारी ने फ्लॉयड की गर्दन से पैर नहीं हटाया जिससे उसकी मौत हो गई।

थियेटर एवं परफॉर्मेंस स्टडीज के प्रोफेसर होने के नाते राज्य की बर्बरता को ब्रह्म प्रकाश सिर्फ इस बात में नहीं देखते हैं कि फ्लॉयड की मौत 'मैं सांस नहीं ले पा रहा हूँ' कहते-कहते हो गई। बल्कि एक कदम आगे जाते हुए ब्रह्म प्रकाश अपने पाठकों का ध्यान हत्यारे पुलिस अधिकारी के शब्दों की तरफ ले जाते हैं जिसमें श्वेत पुलिस अधिकारी फ्लॉयड की गर्दन से पैर हटाने की बजाय फ्लॉयड से कहता है कि 'अगर तुम सांस नहीं ले पा रहे हो चिल्लाना बंद करो क्योंकि चिल्लाने में ऑक्सीजन की खपत अधिक होती है' !

इस दौर में जब राज्य हमें दर्द से छटपटाने का न्यूनतम अधिकार भी नहीं देना चाहता है और हमारी छटपटाहट को ही हमारी मौत का कारण बताने से भी नहीं चूक रहा तब शायद वो समय आ गया है जब एकजुट होकर न्यूनतम लोकतांत्रिक अधिकारों की लड़ाई को लड़ा जाना चाहिए।

राज्य की जघन्य आपराधिक मानसिकता को रेखांकित करते हुए 'बॉडी ऑन द बैरिकेड्स' का उद्देश्य यह कतई नहीं है कि पाठकों को समकालीन भारत या विश्व की सच्चाई से रूबरू कराते हुए उनको घोर निराशा से भर दिया जाए। बल्कि लेखक निरंकुश सरकारों और उनके द्वारा की गई नकेलबंदी के बीच एक उग्र नागरिक आंदोलन की संभावना को भी तलाशता हुआ नजर आता है। लेखक दवा की अपर्याप्तता से कोई इनकार नहीं करता है लेकिन दुआ की महत्ता पर जोर भी देता है।

लेखक के लिए पुलिस का बैरिकेड वो विशेषण है जिसके अर्थ को नागरिक आंदोलन के माध्यम से बदला जा सकता है। अगर बैरिकेड लगाकर पुलिस आंदोलनकारियों की आवाजाही को बाधित करती है तो उन्हीं बैरिकेड पर आंदोलनकारी अपने कपड़े सुखाकर राज्य को उसकी क्षुद्रता

का एहसास भी करा सकते हैं। अगर सत्ता नागरिकों को अपना भक्त बनाकर उनकी वैज्ञानिक चेतना को नष्ट करती है तो भक्ति आंदोलन के पुरोध, कबीर के विचारों को पुनर्जीवित कर के सत्ता को टक्कर दी जा सकती है।

अगर सरकार जाति व्यवस्था को मजबूत करके जातिगत शोषण के क्रम को बढ़ाती है तो मजलूमों की जातिगत पहचान का जाति जनगणना के माध्यम से राजनीतिकरण करके शोषितों को शोषकों के खिलाफ गोलबंद भी किया जा सकता है।

पहली नज़र में बैरिकेड वो रूपक जान पड़ता है जिस पर पहुंचकर चीजें समाप्त हो जाती हैं। आंदोलनकारियों का कारवां रुक जाता है, सत्ता की हनक बढ़ जाती है, दमन का कुचक्र और गहरा हो जाता है। लेकिन 'बॉडी ऑन द बैरिकेड्स' को पढ़ते हुए ऐसा महसूस होता है कि बैरिकेड उस तमाम स्थितिज ऊर्जा के साथ आता है जिसको कभी भी गतिज ऊर्जा में तब्दील किया जा सकता है। मसलन फैक्ट्री में जब अपनी न्यूनतम मजदूरी के लिए मजदूर आंदोलन करते हैं तो मशीनों को रोक दिया जाता है लेकिन अक्सर रुकी हुई मशीनें किसी भीषण अंत का पर्यायवाची न होकर आने वाले परिवर्तन की शुरुआत होती हैं।

ब्रह्म प्रकाश इस बात से इनकार नहीं करते हैं कि फ़ासीवादी दौर का ये शोषण जाति आधारित भारतीय समाज में उस शोषण के समान है जिसे दलित-श्रमिक-खेतिहर मजदूर हजारों वर्षों से झेलते आए हैं। लेकिन साथ ही साथ 2016 में ऊना (गुजरात) में दलितों के द्वारा की गई हड़ताल का उदाहरण देते हुए ब्रह्म ये भी बताते हैं कि जाति विरोधी आंदोलन को श्रमिकों की तरह चलाए जाने वाले वर्ग विरोधी आंदोलनों की तरह कार्यान्वित किए जाने पर दलितों के पक्ष में परिणाम अच्छे हो सकते हैं।

कुल मिलाकर बॉडी ऑन द बैरिकेड्स शोषणकारी संस्कृति का पूर्णतः तिरस्कार करने की बजाय शोषणकारी संस्कृति को वंचितों के पक्ष में पुर्नभाषित करने की दिशा में कदम बढ़ाने की योजना की वकालत करती है, जिससे शोषणकारी संस्कृति को लुटेरों की संस्कृति से कमरों की संस्कृति में तब्दील किया जा सके।

साभार : thewirehindi.com

गांव के राष्ट्रशिल्पी

गांधी मार्ग के अनूठे साधकों की कथा कहती है

अरविंद कुमार सिंह



महात्मा गांधीजी कहते थे... 'हम शहरवासियों का खयाल है कि गांवों का निर्माण शहरों की ज़रूरतें पूरी करने के लिए हुआ है। हमने कभी यह सोचने की तकलीफ नहीं उठाई कि उन गरीबों को पेट भरने जितना अन्न और शरीर ढकने जितना कपड़ा मिलता है या नहीं और धूप और बारिश से बचने के लिए उनके सिर पर छप्पर है या नहीं।'

उनका मत था कि हमें अपनी रोजमर्रा की आवश्यकताएं गांवों की बनी चीजों से ही पूरी करनी चाहिए। अगर हम चीजों को बनाने वालों के काम में रुचि लें यह आग्रह रखें कि वे बढ़िया चीजें तैयार करें तो यह हो ही नहीं सकता कि गांव की बनी चीजों में दिन-दिन तरक्की न हो। ग्रामीण भारत के संदर्भ में गांधीजी जैसा बेहतर चिंतन-मनन और प्रयोग किसी और नायक ने नहीं किया। उनका मत था कि हमें ग्रामीण सभ्यता विरासत में मिली है। देश की विशालता, उनकी विराट आबादी और भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु के मद्देनजर यही उसके अनुकूल है।

खासतौर पर बेहद दुर्गम और जटिल हालात वाले कई गांवों में हुए व्यापक बदलाव या उनके कायाकल्प की कहानी यही बताती है कि उसके पीछे कोई नायक या प्रेरक जरूर रहा। लेकिन बदलाव समुदाय ने किया। हर समस्या का समाधान सहकारी भाव से निकला। पर आज के दौर में जब मीडिया की बात होती है तो संचार और सूचना क्रांति के इस दौर में भी ग्रामीण भारत की आधी-अधूरी तस्वीर मीडिया में दिखती है। किसान और गांव उसके लिए डाउन मार्केट का विषय हैं।

गांव किसान की देहरी तक, वहां के बदलाव या चुनौतियों पर गांव की पगडंडियों पर गिने-चुने पत्रकार ही पहुंचते हैं। हाल में ग्रामीण भारत के ऐसे ही बदलाव पर केंद्रित महत्वपूर्ण कृति आई है, जिसका नाम है गांव के राष्ट्रशिल्पी। इसकी लेखक नीलम गुप्ता देश की जानी-मानी पत्रकार हैं। करीब 3 साल की श्रम साधना और महीनों दुर्गम गांवों की खाक छानकर जमीनी हकीकत को देख-परखकर तथ्यों को कलमबंद कर उन्होंने इस रचना को साकार किया है।

पांच अध्यायों में विभक्त इस पुस्तक के प्रमुख पात्र हैं उत्तर गुजरात के जलदीप ठाकर और दशरथ घरमा वाघेला, दक्षिण गुजरात से अशोक चौधरी, घनश्याम राणा, चेतसी राठौड़, गौतम चौधरी, नीलम पटेल और मोहन माहला तथा उत्तर प्रदेश के राधाकृष्ण शर्मा। इनमें कोई महिला नहीं है। पर ये सभी ऐसे बदलाव के नायक हैं जो प्रेरक भी हैं और सकारात्मक भी।

यह पुस्तक गुजरात विद्यापीठ ने प्रकाशित की है, जो 1920 में खुद गांधीजी ने स्थापित किया था। सरदार पटेल समेत कई महान नायक इससे जुड़े हुए थे।

ग्राम शिल्पी इसी संस्था की परिकल्पना है, जो अंधेरे में रोशनी दिखाती है। अगर इस विचार को मिशन मोड का हिस्सा बनाया जाए तो खासतौर पर दुर्गम और बेहद जटिल हालात वाले गांवों की तस्वीर बदल सकती है, उनका कायाकल्प हो सकता है।

2007 में ग्राम शिल्पी कार्यक्रम गुजरात विद्यापीठ ने आरंभ किया। इसके लिए पहले बुनियादी शिक्षा की

मार्गदर्शिका तैयार हुई। ग्राम शिल्पी कौन होंगे, गांवों में जाकर वो क्या करेंगे, कैसे बदलाव लाएंगे। वे कैसे प्राकृतिक स्रोतों, जल, जंगल और जमीन की रक्षा करेंगे। किस तरह कृषि, कुटीर उद्योग, आरोग्य शिक्षा, नशे के खिलाफ मुहिम और रचनात्मक कामों को गति देंगे। जो गांव चुना जाए, वह सड़क से कमसे कम 5 किमी दूर हो और बुनियादी सुविधाओं से वंचित हो। आबादी 3,000 से ज्यादा न हो। गांव के आधे लोग निरक्षर हों। इससे समझ सकते हैं कि ग्राम शिल्पी के सामने कैसी चुनौतियां होंगी।

ग्राम शिल्पी को अपना काम गांधीवादी मूल्यों के तहत करना है जिसके तहत गांवों में भाईचारा सांप्रदायिक एकता और प्रेम भाव बना रहे। लोकशक्ति को जाग्रत करना, समाज में सकारात्मक रोशनी बिखेरना ये सब कहने में तो अच्छे लगते हैं, लेकिन जब जमीन पर इनको अमलीजामा पहनाना हो तो शायद स्थिति कुछ अलग रहती है। 2 साल का प्रशिक्षण देने के बाद आजीवन गांव की सेवा करना यह सोचना आज के दौर के किसी भी उच्च शिक्षित के लिए कठिन है। ग्राम शिल्पी को पहले 2 हजार रुपये आजीविका के लिए मिलते थे, जो अब 10 हजार हो गए हैं।

ग्राम शिल्पी बनने के लिए 30 छात्र आगे आए, जिसमें से कई 2-3 साल में पलायन कर गए। पर 9 ग्राम शिल्पी मोर्चे पर डटे रहे। उन्हीं पर ये पूरी कथा केंद्रित है। और सबसे बड़ी बात यह है कि इसके चलते आदिवासी अंचलों में खास बदलाव दिख रहा है। यह बदलाव कैसे कैसे हुआ पूरी कहानी यह पुस्तक बताती है।

नीलम गुप्ता की पुस्तक के आमुख में स्वयं में एक संस्था इला भट्ट ने लिखा कि हमारे जीवन की दैनिक प्राथमिक जरूरतें रोटी, कपड़ा, मकान और आरोग्य सेवा, शिक्षण और प्राथमिक बैंकिंग 100 मील के दायरे में स्थानीय स्तर पर पूरी हो जाएं तो गरीबी, शोषण और पर्यावरण के गंभीर सवालों को अहिंसात्मक और रचनात्मक मार्ग पर चल कर हल किया जा सकता है। ग्राम शिल्पी ऐसी ही जटिल समस्याओं के हल के लिए गुजरात विद्यापीठ द्वारा चलाया जा रहा एक रचनात्मक कार्यक्रम है।

इस भूमिका में ही इला भट्ट ने गुजरात मॉडल की बात भी की है और कहा है कि इस पर तो काफी चर्चा चली लेकिन एक ही मॉडल से पूरे राज्य का विकास संभव

नहीं। गुजरात विद्यापीठ के 14 छात्रों ने जो 14 मॉडल रचे, वो अनूठे हैं। ग्राम शिल्पी मॉडल लोकतांत्रिक है, स्थानीय है और समुदाय द्वारा ग्राह्य है।

पुस्तक पढ़ते हुए यह विचार कौंधता है कि गांधीजी ने जिस गुजरात विद्यापीठ को 1920 में अहमदाबाद में स्थापित किया, जो वटवृक्ष बन चुका है, उसे 2007 में ग्राम शिल्पी कार्यक्रम क्यों शुरू करना पड़ा। आरंभिक कई सालों तक इस संस्थान से ऐसे लोग निकले जिन्होंने एक से एक बड़ी संस्थाएं खड़ी की, आदिवासी समुदाय के लिए अनूठा काम किया। यहां के स्नातकों ने अनेक क्षेत्रों में अपनी लगन और निष्ठा से काम किया।

बेशक, गुजरात विद्यापीठ के परिसर से एक दौर में बलवंत राय मेहता जैसे दिग्गज ग्रामशिल्पी निकले। डाह्याभाई नायक, अंबालाल व्यास, परीक्षित लाल मजूमदार, उत्तम चंद शाह, तरला बहन से लेकर सुमति रावल निकले, जिन्होंने गांधीजी के विचारों को ग्रामीण और आदिवासी अंचलों में रोपने के लिए खुद को समर्पित किया। पर 1963 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के साथ जब गुजरात विद्यापीठ जुड़ा तो खास से वह भी आम विश्वविद्यालय बन गया। ये सारा काम करीब करीब ठहर-सा गया।

इसी दौरान एनजीओ, विदेशी फंडिंग आदि के चलते स्वयंसेवी भाव का एक कॉरपोरेट रूप सामने आने लगा। इस नाते ग्रामीण पृष्ठभूमि ये यहां अध्ययन के लिए आने वाले छात्र भी वापस अपने गांवों में लौटने की जगह महानगरीय चकाचौंध में खोने लगे।

बदलाव के प्रेरक

नीलम गुप्ता की यह पुस्तक ग्राम शिल्पी कार्यक्रम और ग्रामशिल्पियों पर पहली और इकलौती पुस्तक है जो बहुत सहज, सरल भाषा में रची गई है। जहां ग्राम शिल्पी काम कर रहे हैं, वहां का इतिहास भूगोल और परिस्थितियां भी चित्रित की है। तमाम चित्र और नक्शे भी हैं। इससे लगता है जैसे पुस्तक आपके अपने साथ उन गांवों और उन पात्रों के पास ले जाती है जो बदलाव के वाहक हैं।

पुस्तक बताती है कि कैसे ग्रामशिल्पियों ने किसानों के साथ धीरे-धीरे काम करते हुए उनको आत्मनिर्भर बनाने के लिए राह खोली। जमीन वही थी लेकिन अधिक उपजाऊ हो गई। आदिवासी अंचलों में ग्रामशिल्पियों ने अपने ज्ञान के साथ

विज्ञान की मदद से बेकार पड़ी जमीनों पर साग सब्जियों का उत्पादन आरंभ करा दिया। नकदी फसलों ने उनको अप्रयुक्त भूमि से जीविका का रास्ता दिया। नकद रकम हाथ आने लगी तो जीवन स्तर बदला। बाजार के साथ उनका संपर्क हुआ, उनमें बाजार की समझ बढ़ी, बार्गेनिंग क्षमता विकसित हुई। बेशक बहुत कुछ सीखना पड़ा, पर उसका असर ये रहा कि उनका जीवन बदलने लगा।

गांवों में कई तरह के रोजगार आरंभ हुए। साधन-सवारी का इंतजाम भी हो गया जिससे जीवन सरल हुआ। थोड़े संसाधन बढ़े तो स्वाभाविक तौर पर पौष्टिक आहार से लेकर बच्चों और महिलाओं की सेहत पर उनका ध्यान गया।

महिलाएं भी अपने हकों के लिए संगठित हुईं और बदलाव की प्रेरक बनीं। कुछ सफलता और कुछ विफलता के बाद महिलाओं के नेतृत्व में स्थायित्व मिला। कहीं स्वयं सहायता समूह ने उन्हें बचत करने का महत्व बताया। शिक्षा के बारे में धीरे-धीरे उनकी सोच बदली, बच्चे पढ़ने जाने लगे, स्वच्छता की तरफ उनका रुझान बढ़ा।

यह पुस्तक बताती है कि आरंभिक दौर में लोगों का विश्वास जीतने में ग्रामशिल्पियों को किस कदर श्रम करना पड़ा। साल, दो साल तो गांव के लोगों का भरोसा जीतने में ही लग गया। न उनके खाने का ठिकाना न रहने का।

कुछ के लिए आरंभिक दौर ऐसे रहे कि विचार आया कि लौट चलें। क्योंकि ठहरने में बहुत बाधाएं आईं। बहुत-सी बाधाओं के बाद भी ग्रामशिल्पी लोकशक्ति जागरण में कामयाब रहे।

पुस्तक में बहुत रोचक तरीके से सारे तथ्यों को दर्शाने के साथ यह भी बताया गया है कि उन गांवों में ग्राम शिल्पी के आगमन के पहले कैसी तस्वीर थी और अब क्या हालत है। उसके काम का क्या असर है।

ग्राम शिल्पियों ने पढ़ाई के दौरान शायद गांधी को उतना नहीं पढ़ा था जितना गांवों में रहने के दौरान पढ़ा, बुना और उनकी ताकत को समझा।

नीलम गुप्ता की यह पुस्तक गांधीजी के उस वक्तव्य की ओर ध्यान भी खींचती है जिसमें उन्होंने कहा था कि 'आदर्श ग्राम निर्माण का काम उतना ही कठिन है, जितना कि सारे हिंदुस्तान को आदर्श बनाना। ज लेकिन एक ही गांव को कोई एक आदमी आदर्श बना सके तो यह कहा जा सकता है कि उसने हिंदुस्तान के लिए ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया के लिए एक रास्ता ढूंढ निकाला।'

ये ग्राम शिल्पी यही काम कर रहे हैं। यह पुस्तक नीति निर्माताओं और ग्रामीण क्षेत्रों में रुचि रखने वाले हरेक व्यक्ति के पढ़ने लायक है।

साभार : <https://thewirehindi.com/>

मुझे नहीं लगता कि किसी बुराई को बर्बरताएँ यंत्रणा या दासता से मिटाया जा सकता है—बुराई किसी ऐसी चीज से ही मिट सकती है, जो बुराई से न निकली हो। युद्ध हमारी इस तथाकथित शांति का नतीजा है, जो कि हमारी रोजमर्रा की बर्बरता, शोषण, सकीर्णता आदि का सिलसिला ही है। बिना अपने दैनिक जीवन को बदले हम शांति नहीं ला सकते और युद्ध हमारे दैनिक आचरण की बड़े पैमाने पर अभिव्यक्ति है। यदि मानव बुनियादी तौर पर नहीं बदलता है, मूलभूत रूप से अपने भीतर एक परिवर्तन नहीं ले आता—किसी ईश्वर के द्वारा या प्रार्थनाओं के द्वारा नहीं, जो कि बहुत ही बचकानी व अपरिपक्व बातें हैं—तो हम एक-दूसरे का विनाश करने जा रहे हैं। यह मनोवैज्ञानिक क्रांति अभी, इसी क्षण संभव है, न कि एक हजार साल बाद। हजारों साल तो हमने बिता दिए हैं और आज भी हम बर्बर, असभ्य ही हैं, इसलिए अगर हम अभी नहीं बदलते तो हम कल भी और हजारों कल के बाद भी बर्बर, असभ्य ही रहेंगे... यदि आज मैं युद्ध को नहीं रोकता हूँ तो कल भी युद्ध करता रहूँगा। सीधे-सादे शब्दों में कहा जाए तो भविष्य इसी क्षण है।

—जे. कृष्णमूर्ति

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

प्रिंटर : सपना फोटोस्टेट अमोनिया प्रिंटर

केवल सीमित वितरण के लिए